अखण्ड आनन्द

की

प्राप्ति

—श्रीगोविन्दजी

प्रकाशक
शोभना प्रकाशन
१०५, विवेकानन्द मार्ग
इलाहाबाद–३

मूल्य

प्रथम आवृत्ति १९६६
द्वितीय आवृत्ति १९७३

मुद्रक
बाल मुकुन्द
राज लक्ष्मी प्रेस
१०५, विवेकानन्द मार्ग
इलाहाबाद–३

श्री गुरुवे नमः

नृदेह माद्यं सुलभ सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारम ।
मयाऽनुकूलेन नभस्व तेरितं
पुमान भवाब्धिं न तरेत् स आत्म हा ।।
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणाम् ।
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात्त दुपचेष्टा सौ तस्माद् गुरुतरो गुरुः ।।
यच्छंति देवता स्तुष्टा धनमायुः सुतं पुत्र यशः ।।
ज्ञानं के नाम दास्यन्ति, बिना श्री गुरु पादुकाम् ।।
उत्पादक ब्रह्म दाजो गरीयन ब्रह्म ज्ञः पिता ।
तस्मान्मन्येत सतत पितु रप्यधिकं गुरु ।।
तारणाय मनुष्याणाम संसारे परिवर्तताम् ।
नास्तिं तीर्थं गुरु समं बन्धच्छेद करं द्विज ।।

अपने गुरु का गान गाऊँ,
ऐसो पाऊँ कौन उदार प्रभु जी ।। अपने० ।।
अध कूप में पड़े जीवों का,
जगती में पड़े दीन जनों का
तज बैकुण्ठ उवारके प्रभु जी ।। ऐसो ।।
कृष्ण रूप धर वृज में आयो,
राम रूप धर अवध में जायो ।
रावण मारे उवारे प्रभु जी ।। ऐसो ।।
भक्त हेतु तप किन्हीं स्वामी,
गुरु नाम की अमृत वानी ।
देकर कष्ट निवारें प्रभु जी ।। ऐसो ।।
गजब दया है तेरी प्यारे
अज्ञान की घूँघट तूही उघारे ।
नारायण मैं दास तिहार प्रभु जी ।।ऐसो ।।

नम्र निवेदन

मेरा यह साधना युक्त जीवन आज मेरे परम इष्टदेव श्री श्री १००८ श्री नारायण महाप्रभु की परम देन है। मेरा राजशाही वैभव युक्त जीवन महलों की आलीशान अट्टालिकाओं में आसक्त आज मेरे भगवान सदगुरु की अहेतुकी दया के प्रसाद से ही मुक्त हुआ। कहाँ वहाँ अहं भाव की वेड़ी में जकड़ा हुआ तृष्णा युक्त प्रज्वलित अग्निमय वह जीवन, कहाँ यह प्रभु का शरणागतमय अमर आनन्द-मय यह सौभाग्य शाली जीवन। अब मैं सोचती हूँ दुःख-सुख, पूर्ति र्ति, भुक्त-अभुक्त इन्द्रिय जनित राग के प्रवाह में बहना मानव की कितनी बड़ी भूल तथा जीवन का आडम्बर है। द्वन्द्व से भरा होने के कारण कभी मानव कहता है आज चित्त बड़ा दुखी है कभी कहता है, मन बड़ा खिन्न है। पर आज मेरे प्रभु की कृपा से यह अनुभव हो रहा है। यह केवल चित्त का भ्रम मात्र है। 'अखण्ड आनन्द की प्राप्ति' नामक छोटी सी पुस्तक श्री भगवान गुरुदेव की अनन्य कृपा की देन है। प्रस्तुत पुस्तक में यह प्रयास किया गया है कि साधक को जब भक्ति पथ पर चलने में जब अनेक उलझनें आ जाती हैं, एवं जब साधक उससे डगमगाने लगता है तब किन वृत्तियों को धारण करनां चाहिये जिससे वह शीघ्र ही मुक्त हो जाय। पाठक गणों से निवेदन है कि वें पुस्तक की कमियों पर ध्यान न देकर युक्त ज्ञान से लाभ उठायें।

निवेदिका

रानी हेमन्त कुमारी

(श्री गोविन्द जी)

अखण्ड आनन्द की प्राप्ति

१—ब्रह्म ही सत्य है जगत मिथ्या। (अध्याय)

२—मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं ज्योति हूँ, यही सत्य है ऐसी ही धारणा बनानी चाहिये। (तत्वज्ञान)

३—यह विशाल संसार मेरा घर है और भलाई करना मेरा धर्म ऐसा विचार रखना प्रत्येक मानव का परम कर्तव्य है।

४—अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही परमपद को प्राप्त करना है। अपने हृदय से अन्धकार निकाल देने वाला मानव ही आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्यों-ज्यों वृत्ति अन्तर्मुख होती जायगी वह उतनी ही महान होती जायगी। निज स्वरूप की प्राप्ति ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करना है।

५—ब्रह्म को जानने के लिये ब्रह्म की तरह बनना पड़ेगा। ब्रह्म ही ब्रह्म को जान सकता है।

६—मानव स्वयं अपने भाग्य का विधाता है ऐसा विचार ही मनुष्य को उन्नति की शिखर पर पहुंचा सकता है।

७—अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करो। इसको किस प्रकार लाभ होगा इसका विचार करो। इसका ज्ञान न होने से मानव दुःखी रहता है। आत्मा का उद्धार अविवेक, दुःख तथा असंयम को मन में स्थान न देने में ही है।

तुम्हारे प्रति किये गये दूसरों के व्यवहारों से, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, उन्हें स्वजन द्वारा किये गये समझ कर प्रसन्न रहो। कोई तुम्हारा बुरा करे तो भी यह सोचकर उस पर दया करो कि उस मनुष्य को भले-बुरे की पहचान नहीं है।

८—मनुष्य के कर्म में सबसे अधिक दुर्बलता अहंकार है। यह पतन की ओर ले जाता है। अहंकार के कारण मनुष्य समझता है कि वही सब कुछ कर रहा है तथा वह बन्धन में पड़ जाता है। जिस क्षण अहंकार आ जाता है उसी क्षण ईश्वरीय शक्ति का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। अहंकार के वशीभूत होकर ही मनुष्य बुरे कर्म करता है। (अहंकार)

९—कल्पना या अनुमान द्वारा किसी को छली, कपटी, व्यभिचारी, चोर या ठग बना देना बहुत ही बड़ा अपराध है। बुद्धिमान व्यक्ति इस दोष को अपने भीतर नहीं रहने देते। किसी की बाहरी चेष्टा, क्रिया, धारणा और प्रवृत्ति को देखकर अपने हृदय के अनुसार ही मनुष्य कल्पना करता है। विवेकीजन सर्वत्र गुण ही देखते हैं और दोषों पर धूल डालते हैं तथा दुर्जन सर्वत्र दोष ही देखते हैं। (कल्पना)

१०—आत्म विश्वास, आत्म-ज्ञान द्वारा मानव ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। स्वयं की सहायता करने वाले की ईश्वर सहायता करता है। आत्मा ही सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर है। आत्मनिर्भर व्यक्ति के लिये संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है उसके मार्ग में कोई बाधा, रुकावट नहीं डाल सकता क्योंकि उसे अपने में विश्वास है। (ज्ञान)

११—सज्जन व्यक्ति के लिये निन्दा स्तुति समान है। अपमानित होने

पर भी प्रारब्ध भोग समझ कर वे शान्त रहते हैं उनमें बदला लेने की इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती । (ज्ञान)

१२—क्या तुम डरते हो ? ईश्वर से, तब तो बड़े मूर्ख हो । मनुष्य से ? यह तो कायरता है । पंच भूतों से? उनका सामना करो । आप अपने से ? अपने को पहचानो । कहो 'अहं ब्रह्मास्मि'

(चेतावनी)

१३—कुछ भी न चाहने पर भगवान की चाह उत्पन्न होती है । भगवान वहाँ आते हैं जहाँ कुछ नहीं चाहिये जिसका कोई नहीं । जिसने श्री चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है ।

(निष्काम)

१४—भगवान ने मानव शरीर सबकी भलाई तथा मंगलमय भगवान को प्राप्ति करने के लिये ही दिया है । यही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है । इस महान लक्ष्य को ध्यान में रखते हुये अपने कर्तव्य का पालन करते रहो । (चेतावनी)

१५—पुरुष जितना प्रेम अपनी स्त्री से करता है यदि उससे आधा प्रेम भी ईश्वर से करे तो परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति कर ले ।

(चेतावनी)

१६—किसी से द्वेष करना या किसी पर क्रोध करना अन्याय है । दुःख सुख को समान रूप से न देखना, व्यर्थ सोच विचार करना, बिना किसी प्रकार के जीवन के सिद्धान्त के जीवन बिताना आत्मद्रोह है । (चेतावनी)

१७—शोक चिन्ता से होता है इसलिये चिन्ता छोड़ो ।

१८—मन को वश में रखने वाला संयमी एवं शुद्ध विचार रखने वाला मानव ही ईश्वर का सच्चा भक्त है। आत्मा तो परमात्मा का अंश है। सच्चा भक्त आत्मा पर सुख दुःख का प्रभाव नहीं पड़ने देता, राग द्वेष काम क्रोधादि के साथ लड़कर उनपर विजय पाता है एवं पर हित में ही अपना कर्तव्य धर्म समझता है।

(चेतावनी)

१९—प्रत्येक कार्य को मन लगाकर, विवेक पूर्वक, परहित को ध्यान में रखकर करना चाहिये। व्यर्थ की बातों में समय न बिताना चाहिये। अपनी कमजोरियों को छिपाना न चाहिये। किसी के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। धैर्य और नीति से काम लेना चाहिये। अपने हृदय में बसने वाले परमात्मा की निरन्तर उपासना करनी चाहिये। स्वावलम्बी बनो एवं हृदय को सदा प्रसन्न रक्खो। जैसे योद्धा प्रत्येक क्षण युद्ध में जाने के लिये तैयार रहता है उसी प्रकार मृत्यु का बुलावा आने के लिये तैयार रहो। (चेतावनी)

२०—आध्यात्मिक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। आत्मा को विशुद्ध रखना और राग द्वेष से बचाये रखना, व्यर्थ या अनिष्टकारी चेष्टाओं से एवं छल कपट से दूर रहना, दूसरों पर किसी प्रकार की आशाएं न रखना, किसी भी अवस्था में स्थितप्रज्ञ रहना, दुःख सुख में विचलित न होना एवं प्रयाणकाल तक चित्त को शान्त रखना ही ज्ञान है। (आध्यात्म)

२१—आध्यात्मिक तत्व ही सबसे ऊँचा तत्व है। विचारों को वश में रक्खो इन्द्रियों का निग्रह करके ईश्वर पर श्रद्धा रक्खो और सदा पर हित में रत रहो। बाकी सब विषयों को तुच्छ समझो मन को

इधर-उधर न भागने दो नहीं तो बाद में उसके वेग को रोकना असम्भव हो जायेगा। सब दुःखों का निवारण इसीमें है। धन-दौलत, कीर्ति आदि यह सब झूठी तृष्णा है। (आध्यात्म)

२२—जो मेरे गुण को नहीं बिगाड़ सकता वह मेरे जीवन को भी नहीं बिगाड़ सकता, उसे हानि नहीं पहुँचा सकता। (गुण)

२३—तुम्हारा शस्त्र तत्व ज्ञान है। समय पड़ने पर काम में लगा सकने की स्थिति में अपने ज्ञान को रक्खो। क्या मालूम कब दैव या मानव तुम्हारे ऊपर हमला कर दे और तुम नितान्त विवश और दुःखी हो जाओ। ज्ञान से उसका सामना करो। (तत्वज्ञान)

२४—मन में चंचलता उत्पन्न करने वाली वस्तुओं से दूर रहना कुछ कठिन नहीं। वास्तव में हम अपनी शक्ति को पहचान नहीं रहे हैं।

२५—एकान्त वास के लिये प्रायः लोग पहाड़ों, गुफाओं, निर्जन वन, समुद्र तट आदि स्थानों में आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। तुम भी यही करना चाहते हो? इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है। जब चाहो कहीं भी एकान्त स्थान पाना शक्य है। अच्छे विचारों और साधना से चित्त को जो शान्ति प्रप्त होती है उससे अधिक वह किस एकान्तवास में मिल सकती है। जब आवश्यकता पड़े तब अपने मन रूपी एकान्त आश्रम में प्रवेश करो। उससे तुम्हें शान्ति मिलेगी बल बढ़ेगा। वहाँ एकान्त चित्त से तत्व चिंतन करो। दुनिया के संकटों का सामना करते हुये मन को प्रफुल्लित रखने की यही औषधि है।

२६—जो समय बीत चुका है उसके लिये शोक मत करो। जो होनहार

है उसकी चिंता मत करो। अभी जो जीवन तुम बिता रहे हो उसे दृढ़ता पूर्वक सोच समझ कर धर्म पथ से बिल्कुल अविचलित होकर बिताओ। आत्मा को बिशुद्ध कन्या की तरह स्वच्छ रक्खो जिससे मृत्यु के बाद उसे परमात्मा को सौंपने में समर्थ हो सको। (चेतावनी)

२७—परिश्रमी व्यक्ति का जीवन उसी प्रकार चमकता है जैसे ध्रुव तारा। बिना परिश्रम कोई चमक नहीं सकता इसलिये आलसी मत बनो। (चेतावनी)

२८—किसी भी कारण से विह्वल मत होओ, तुम्हें मालूम होना चाहिये कि ये बातें वस्त्र में सूत की तरह जीवन में ओत-प्रोत हैं। सब कुछ ईश्वर के हाथ में है। इसलिये किसी भी घटना से दुःखी न हो। कोई तुम्हारा बुरा करे तो भी यही सोचो कि वह तुम्हारा मित्र है, बन्धु है, अपने स्वभाव से प्रेरित होकर ही उसने ऐसा काम किया है। तुम्हें समझ है। सामाजिक कर्तव्य वह भूल गया तो तुम क्यों भूलो? तुम तो उदारता और न्याय को नहीं भूल सकते। (विश्वास)

२९—उदास क्यों हो? दुर्जनों की करतूतों से तुम दुःखी हो क्या? मनुष्यों को बुद्धि इसलिये मिली है कि वह सबसे मिल जुल कर रहे। क्षमा मनुष्य का धर्म है। अब तक करोड़ों मनुष्य आपस में वैर कर चुके हैं। दुश्मनी करके युद्ध कर चुके हैं। अंत में स्वयं मर मिटने के अतिरिक्त उन लोगों ने क्या पाया। इन बातों का विचार कर चित्त में शान्ति रक्खो।

३०—सब बातों को भूल कर अपने मन रूपी निर्जन झोपड़ी में चले जाओ और वहाँ बैठकर मनन करो। स्वतन्त्र बनो। मनन

करते समय यह कभी न भूलो कि विश्वरूपी ब्रह्म परिवार के तुम एक सदस्य हो। एक न एक दिन तुम्हें इस दुनिया को छोड़ना ही पड़ेगा। इस प्रकार के चिन्तन से बहुत लाभ हैं। आत्मा पर विषय, भोग, सुख और दुःख कुछ असर नहीं डाल सकते। ये सब बाह्य वस्तुएँ हैं। तुम्हारा मन व्यर्थ ही चिन्ता करता है। यहाँ की समस्त वस्तुएँ क्षण भंगुर हैं तुमने कितनी बार मृत्यु को देखा है। यही जगत की नीति है। मनन ही मानव जीवन है।

३१—कोई तुम्हारा बुरा करे तो उसके बुरे विचारों को अपने मन में स्थान न दो। वह जिन बुरे भावों को तुम्हें देता है उन्हें अपने हृदय में स्थान न दो। यदि ऐसा करोगे तो किसी भी कष्ट का असर तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ेगा। सभी विषयों का ठीक-ठीक विचार करो। (चेतावनी)

३२—अपने अन्तःकरण को स्वच्छ रखो। दूसरों ने क्या किया क्या सोचा ऐसी व्यर्थ की बातों में समय मत गँवाओ। आत्म निरीक्षण करो। धर्म मार्ग पर चलो। इससे समय का अपव्यय नहीं होगा इधर-उधर मत देखो। सामने की ओर देखकर चलो। (चेतावनी)

३३—एक मुनि ने कहा कि यदि शक्ति चाहते हो तो बहुत से संकल्प और व्रत कर लेना ठीक नहीं। जो कार्य अत्यन्त आवश्यक हो और समाज की भलाई के लिये हो, वही करो। जब करना चाहिये तभी करो। कामों की सूची लम्बी न करो।

एक प्रयोग करो। जो कुछ तुम्हे मिला है उसमें संतोष करो। तुमको जो हिस्सा मिला है उससे खुश रहो। तुम्हारे कार्य न्याय पूर्ण रहें। चाहे दूसरे कुछ भी कहें तुम्हारे हृदय में प्रेम रहे। दूसरों का हृदय साफ न हो तो उसकी चिन्ता मत करो। यह प्रयोग करके देखो। तुम अवश्य आनन्द पाओगे।

यह सत्य है कि तुम्हें नुकसान पहुँचाने की कोशिश की गई है। पर नुकसान उसी का है जिसने तुम्हें तकलीफ देनी चाही। तुम्हें कष्ट पहुँचा भी तो क्या। जो होने वाला होता है वह होकर रहता है। उससे व्याकुल नहीं होना चाहिये। आयु की अवधि अल्प होती है। अभी जो समय तुम्हारे हाथ में है उसका लाभ समझदारी के साथ धर्म मार्ग पर चल कर उठाओ। (शान्ति)

३४—समुद्रतट की चट्टानों पर लहरें सदा टकराती रहती हैं उसके प्रहारों से उनको कुछ नहीं होता। अपने हृदय को वैसा ही बलवान बनाओ।

विपत्ति को देखकर हाय-हाय मत मचाओ।
धैर्य और दृढ़ता के साथ विपत्ति का सामना करो। इस बात से खुश रहो कि तुम्हारे अन्दर दूसरों के मुकाबले अधिक निर्भयता और स्थिरता है।

जीवन का ध्येय क्या है? जब तक कोई भी घटना तुम्हारे सत्य, विनय, स्वावलम्बन और उदारता पर बुरा प्रभाव न डाले तब तक उस विपत्ति को विपत्ति समझना ही नहीं चाहिये, स्वच्छ हृदय ही सब से अधिक आनन्दप्रद होता है। विपत्ति मत मानो। उसे सहन करने की शक्ति रक्खो। इस सहनशीलता को अहो भाग्य समझो। (विश्वास)

३५—यदि तुम मन और कर्म से धर्म और न्याय के विरुद्ध न चलो तो तुम्हारा मार्ग सरल है। आत्म शान्ति और आत्म तृप्ति के लिये स्थित प्रज्ञता से बढ़कर कुछ नहीं।

३६—बुराई का बदला इसी में है कि हम वैसा न करें जैसा बुराई करने वाले ने किया (चेतावनी)

३७—जिस आदमी को पीलिया रोग हो गया है उसे शहद भी कड़वा लगेगा। जिसे पागल कुत्ते ने काटा है वह पानी के पास जाने से डरेगा। मनुष्य बुरे रास्ते पर अज्ञान के कारण ही चलता है। उस पर क्रोध करना अनुचित है। (चेतावनी)

३८—निंदा के पात्र बनना और परोपकार करना ये दोनों राज सत्ता चलाने वालों के लिये बड़े भाग्य की बातें हैं।

३९—शारीरिक बल में भले ही तुम्हें कोई जीत ले किन्तु शील, विनय, सहिष्णुता और अक्रोध में तुम्हें किसी से नहीं हारना चाहिये।

४०—कार्य और कारण की जाँच करो। न्याय और सत्य से न डिगो।

४१—कभी कोई दुःख पड़े तो दीन मत बनो। दूसरों की दया मत चाहो। खुशामद मत चाहो। बुद्धि पूर्वक खूब सोचो क्या करना चाहिये। किस वस्तु से दूर रहना चाहिये। परहित ध्यान में रक्खो।

४२—बाहर की ओर देखना छोड़कर अपने अन्तःकरण की ओर देखो। शान्ति पाने का एक यही मार्ग है। प्रकृति का स्वाभाव और रहस्य समझने का प्रयत्न करो। दूसरे के मन को भी सम्यक् प्रकार से समझने का प्रयत्न करो। तभी तुम्हें मालूम होगा कि उसने कौन सा काम जान-बूझ कर किया कौन सा बगैर बूझे। (चेतावनी)

४३—तुम्हारे मन के विचार परमात्मा से छिपे नहीं रह सकते। यदि तुम सच्ची शान्ति लाभ करना चाहते हो तो अन्तर्यामी परमेश्वर को देखने और समझने का प्रयत्न करो। शरीर को भूल जाओ

आत्मज्ञानी को दौलत, कीर्ति और अधिकार की चिन्ता नहीं रहती। (ज्ञान)

४४—सारी चिन्ताओं और दुखों का मूल चाह है।
'चाह गई चिन्ता गई मनुवा वेपरवाह'

चित्त में जब कोई चाह नहीं रहती तभी पूर्णता की प्राप्ति होती है। वह आकाश वत हो जाता है। तब वहाँ आत्मा परमात्मा का निवास होता है। आत्मा का अर्थ है—शान्ति आनन्द और पूर्णता।

४५—इच्छा वाला कर्म जन्म मृत्यु रूप फल देने वाला है।
'नैराश्यं परमं सुखम्'। वही मुक्त है वह वेपरवाह और मस्त रहता है, जिसको कुछ न चाहिये वही शाहंशाह।

४६—स्व स्वरूप का बोध हुए विना भोग से कभी सुख-बुद्धि नहीं मिटती भोग से शरीर का नाश होता है परन्तु चित्त का नाश नहीं होता। चित्त का शरीर ही इच्छा है। इच्छा ही चित्त का आधार है। इच्छा के मरने पर चित्त का भी नाश हो जाता है।

४७—सत्संग, विचार, स्वरूप ज्ञान और वैराग्य से चित्त शान्त होता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो सम्पूर्ण इच्छाओं को छोड़ कर ममता और अहंकार से रहित होकर विचरता है वह शांति को प्राप्त होता है।

४८—हम विचारों से बनते और बिगड़ते हैं। अतः सारे धार्मिक अनुष्ठान शुद्धि के लिये किये जाते हैं। संस्कारों का सबसे अधिक महत्व चित्त शुद्धि है। काया की मलिनता तो पानी एवं साबुन से दूर भी की जा सकती है। परन्तु मन तो न जाने कहाँ-कहाँ

भटकता है। अतः मन को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा कर आसक्ति रूपी विष को हटाकर शुभ प्रवृत्तियों में लगा देने से नुकसान का भय नहीं रहता। आत्म निरीक्षण प्रति पल नहीं तो प्रति दिन अवश्य करना चाहिये। उसके द्वारा अपने दोषों का निवारण कर जिन गुणों की कमी है उन्हें पूरा कर लेना चाहिये. यही संस्कृति है।

४६—हमारे विचारों का दूसरों पर उसी समय प्रभाव पड़ता है जबकि उसकी मानसिक स्थिति उन विचारों को ग्रहण करने के योग्य होती है। यही बात हमारे स्वयं के सम्बन्ध में भी सत्य है। हमारे मन में अच्छे बुरे जैसे भी विचार उठते हैं सबकी पृष्ठ भूमि हमारे ही अन्दर होती है।

५०—किसी घायल व्यक्ति से उसके दुःख की पूछताछ करना एक प्रकार से निर्दयता है बल्कि सच्ची सहानुभूति तब है जब स्वयं घायल बन हर प्रकार से उसकी सहायता की जाय।

सहानुभूति से हमारे व्यक्तित्व में पूर्णता का भाव आता है। इसी गुण के आधार पर सहानुभूति दर्शाने वाला अपनी निजता में अनेक आत्माओं का प्रतीक बन जाता है। दूसरे की दृष्टि से वह देखता है दूसरे के कानों से वह सुनता है। दूसरे के मन से सोचता है और दूसरों के हृदयों के द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है। अपनी इसी खूबी के साथ चलते हुए वह अपने से भिन्न लोगों के मनोभाव को समझ सकता है। दूसरों के जीवन का अर्थ उसके आगे स्पष्ट हो जाता है। दूसरों के साथ वह एकाकारिता का अनुभव करता है।

सहानुभूति एक ऐसा पत्थर है जो जिन्दगी के लोहे को सोने

में बदल देता है। मानव के सम्बन्धों में संगीत का माधुर्य और इन्द्रधनुष का माधुर्य तथा सौंदर्य भर जाता है। सहानुभूति पूर्ण व्यक्ति किसी को भी मूलतः मूर्ख, शठ, चरित्रहीन, लम्पठ और लोलुप नहीं समझता। वह भली भांति जानता है कि दोष तो उसकी परिस्थिति का है जिसने उसको चोरी या कोई बुरा काम करने के लिये विवश किया।

सहानुभूति चरित्र-निर्माण के तत्वों में से एक श्रेष्ठतम तत्व है। अनेकता में एकता और भेद में अभेद आ आभास जिसने पा लिया उसकी सहानुभूति तो अपरिमित एवं दृढ़तम हो जाती है। हम दूसरों को जब तक अपना नहीं समझते तभी तक सहानुभूति हमारे हृदय में अपनी जगह नहीं बनाती और हमारी धमनियों में प्रवाहित नहीं होती। जब हम यह जान लेते हैं कि सागर के लहरों की तरह हम सब एक ही परम तत्व में से निकलते हैं और उसी में हमें विलीन हो जाना है तब हमारे हृदय की सोई सहानुभूति द्रवित एवं आन्दोलित होने लगती है।

२१—प्रेम सफलता का एक दूसरा सिद्धान्त है। प्रेम करो और लोग तुमसे प्रेम करेंगे। वस यही लक्ष्य है। हाथ यदि जीवित रहना चाहता है तो उसे शरीर के अन्य अंगों से प्रेम करना होगा। यदि वह अपने को सबसे पृथक कर के सोचे कि मेरी कमाई से दूसरे अंग क्यों लाभ उठायें तो हाथ का काम हो चुका। उसका मरण अनिवार्य है। यदि अपनी स्वार्थ वृत्ति पर डट ही जाय तो उसे मुख में खान और पान की आवश्यकता ही क्या केवल अपने-अपने परिश्रम बल पर प्राप्त करना है—चाहे उसने वह परिश्रम कलम के द्वारा किया हो या तलवार के द्वारा। (प्रेम)

५२—आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ जड़ता या भावहीनता नहीं है। विकास जितना उच्च होता है भाव प्रवणता भी उतनी ही श्रेष्ठ और गम्भीर होती है। (अध्यात्म)

५३—अशुभ का विरोध मत करो। सदा शान्त रहो और जो कुछ भी सामने आये प्रसन्नता से उसका स्वागत करो।

५४—हर समय शान्त, स्थिर और आत्मनिष्ठ रहना तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है। (चेतना)

५५—शान्ति, कल्याण, प्रेम और आनन्द सदा तुम्हारा साहचर्य करे।

अपना आप बनने का निश्चय करो और देखो जो अपने को पा लेता है वह दुःखों से छूट जाता है।

५६—महान आत्माएँ कभी अस्थिर चित्त नहीं होतीं। अतः बुद्धिमान कभी अस्थिर-चित्त तथा उदास नहीं होता। वह तो सदैव उस एक सर्वश्रेष्ठ परम तत्व में निमग्न रहता हैं। (तत्व)

५७—उस सर्वोपरि अनन्त शक्ति का अनुभव करना चाहिये, जो सूर्य में और नक्षत्रों में सर्वत्र व्यक्त हो रही है। वह एक है। सर्वत्र सर्वथा एक है। मैं भी वही हूँ तुम भी वही हो। इस वास्तविक आत्मा को पकड़ लो अपने जन्म जात वैभव को ग्रहण करो। अपने निरंतर जीवन का विचार करो। अपने इस सच्चे सौन्दर्य पर ध्यान जमाओ। ऐसा ध्यान जमाओ कि इस छोटे से शरीर के क्षुद्र विचारों का कतई विस्मरण हो जाय। ऐसा अनुभव हो कि इन झूठी, दिखावटी बातों (छायाओं) से हमारा कोई सरोकार न रहे। न कोई मृत्यु है न कोई बीमारी, न कोई दुःख। पूर्ण आनन्द, पूर्ण शिव, पूर्ण शान्ति। (तत्वज्ञान)

५८—यदि मित्र की कोई अनुचित बात ज्ञात हो तो उसे भूल जाओ। यदि उसके बारे में कोई अच्छी बात ज्ञात हो तो उसे सुना दो अवश्य। उसका मुख-मण्डल तुरन्त दीप्त हो उठेगा। सत्पथ ग्रहण करने योग्य बनेगा। जैसे सूर्य। जो हृदय पूर्णतः प्रेम से सराबोर हो उससे बढ़ाकर कोई शक्ति नहीं। तुम्हारा प्रियतम आत्मा।

५९—यदि तुम किसी को चाहते हो और उस पर अपना दिल लगाया है तो क्या अपनी दोनों आँखें भिगोकर उसके लिए रोते-धोते ही रहोगे ?

आँसू बहाने से काम न चलेगा उसके लिये बहाना होगा पसीना श्रम जनित स्वेद !

६०—मन में एक व्यक्ति की किसी दूसरे व्यक्ति से तुलना करना, उसे अपेक्षाकृत श्रेष्ठ अथवा हीन ठहराना और लोगों के शब्दों को सुनकर अथवा उनके ऊपरी व्यवहारों को देखकर झट से परिणामों पर कूदना इन दोनों बातों से सदा दूर रहना चाहिये।

६१—रोटी नहीं न सही। पानी न हो न सही। आश्रय और विश्राम, नहीं न सही। पर मुझे तो चाहिये प्रेम की, उस दिव्य प्रेम की प्यास और तड़प। एक इस ढाँचे की क्या तेरे प्रेम की बलिवेदी पर ऐसे लाखों करोड़ों ढाँचे, हड्डियों के ढाँचे स्वाहा हो जायँ तो भी थोड़ा है।

६२—इस मैं और मेरे, तू और तेरे के झमेले से अलग रहो। आशाओं और आशंकाओं को उतार फेंको। टुकड़े-टुकड़े करके गला दो। द्वैत की भावना जड़ से उड़ा दो। जिससे हवा में काफूर हो

जाय। जाँच करो, देखो और परखो अथवा और भी कोई काम करो किन्तु करो उसे अपनी वास्तविक आत्मा के प्रकाश में—अर्थात् यह कभी मत भूलो कि तुम्हारी आत्मा इन सबके ऊपर है। सारी आवश्यकताओं से परे है।

६३—ईश्वरीय नियम अग्नि रूप है। यह सभी सांसारिक आसक्तियों को जला डालता है। यह अज्ञानी मस्तिष्क को झुलसा देता है। किन्तु वह हृदय को शुद्ध करके आत्मा को आक्रुष्ट करने वाले सभी विषैले कीड़ों को भी समूल नष्ट करने वाला है।

६४—धर्म हमारे प्राणों का प्राण है। उसी प्रकार सर्व व्यापक है जेसे भोजन की क्रिया।

६५—जिसका शरीर से सम्बन्ध है उसको प्रिय और अप्रिय से छुटकारा नहीं मिल सकता। जिसका शरीर से सम्बन्ध नहीं है उसको प्रिय अप्रिय या अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का स्पर्श भी नहीं होता।

६६—संसार के जितने दुःख सुख हैं सब चित्त के आधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्त की ही अवस्थाएँ हैं। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर-उधर दौड़ा करता है उसको कभी शान्ति नहीं मिलती। जिसने वासनाओं से मुक्ति पा ली वही चित्त शुद्ध ब्रह्म बन जाता है परमानन्द का अनुभव करता है।

६७—वीर साधक इस संसार का बोझ उठाते हुए भी भगवान की ओर निहारते रह सकते हैं।

६८—जिस समय मनुष्य विश्व-आत्मा को अपनी निजी आत्मा अनुभव

करता है, उस समय सारा विश्व शरीर की भांति उसकी सेवा करने लगता है।

६९—आत्म शुद्धि की पहली सीढ़ी है कि हम अपनी कमी स्वीकार करें। तपस्या जीवन की सबसे बड़ी कला है।

७०—सज्जन और दुर्जन दोनों ही समान दुःख देने वाले हैं। अन्तर केवल इतना है दुर्जन जब मिलते हैं तब दुःख देते हैं। सज्जन जब बिछुड़ते है तब दुःख देते हैं।

७१—कार्य अधिक है; समय कम है; जीवन छोटा है। अतीत बीत गया, वर्तमान चल रहा है। अब भविष्य अच्छा हो पग-पग पर ध्यान रखना चाहिये। संसार में सभी वस्तुओं का मूल्य है परन्तु समय अमूल्य है। वह किसी मूल्य पर भी वापिस नहीं आ सकता। अतः ऐसा कार्य करो जिससे एक क्षण भी व्यर्थ न जाये।

७२—जिसको संसार के विषय नहीं हिला सकते वह सारे संसार को हिला सकता है।

७३—विद्वान केवल एम० ए० पास होने वाले को नहीं कहते। विद्या का अर्थ प्रकाश है। वह अध्यात्म विद्या है। (अध्यात्म)

७४—ब्रह्म वेत्ता गुरू की कृपा रूपी पंखे के चलने से ही जीव का उद्धार होता है। जैसे दो पत्थरों की रगड़ से ही अग्नि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जिज्ञासु की श्रद्धा और गुरू-कृपा के योग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। (ज्ञान)

७५—यदि आप गुरू के नेत्र, उनके सुन्दर वस्त्र तथा गुरू के हृष्टपुष्ट-

शरीर को ही अपना गुरू मानते हैं तो गलती पर हैं। उनके शब्दों को अपने जीवन में घटाना ही वास्तविक गुरू भक्ति है। यदि हम उनकी शिक्षा को व्यवहारिक रूप में नहीं लाते तो वह जड़ पूजा हो जायेगी, चेतन की नहीं।

७६—ज्ञान मन्थन से गुरू यानी परमेश्वर की प्राप्ति होती है। सत्संग करने से और सत्शास्त्रों के विचार से अन्तःकरण की सफाई होती है। सफाई होने से अपने स्वरूप का जहूर होता है। जब तक गुरू साहब के उपदेशों पर अमल न किया जाये कोई अपने निज स्वरूप को नहीं जान सकता। (गुरु ज्ञान)

गुरू ही के परताप सों, मिटे जगत की व्याधि।
राग द्वेष दुःख ना रहैं, उपजै प्रेम अगाधि।।
गुरु के चरणन में धरौं, चित्त बुद्धि मन अहंकार।
जब कछ आपा न रहै, उतरे सब ही भार।।

७७—जो गुरू को विशेषता-महानता देता है वही महान बन जाता है। लेकिन जो अपना अहं न हटा करके अपने आप को बुद्धिमान समझता है वह अपने को नीचे गिराता है। महापुरुष बनना कठिन है। महान काम महानता ही कराती है। (गुरु ज्ञान)

७८—शिष्य को गुरू के प्रति श्रद्धा और प्रेम करना चाहिये। उनके हर एक वचन में विश्वास होना चाहिये। सतगुरू की श्रद्धापूर्ण सेवा से अपने अन्तःकरण को पवित्र करो।

अकेले गुरू से ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता। उसके लिए अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सोचने की आवश्यकता है। देखो ऋषियों ने एक से एक अद्वितीय ब्रह्म का अनेकों प्रकार से गान

किया है। यदि तुम स्वयं विचार कर निर्णय न करोगे तो ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे जान सकोगे ? (गुरुज्ञान)

७९—सुख तथा मन को प्रिय लगने वाली वस्तुओं का त्याग करके सत्कर्म के बल से ही देवताओं ने ऊँची स्थिति प्राप्त की।

८०—जो किसी व्यसन या विपत्ति में पड़कर क्लेश उठाते हुये मित्र को यथाशक्ति समझा बुझा कर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं। (गुण)

८१—निन्दा तो जीवन को घृणित बना देती है।

८२—जब परमानन्द स्वरूप परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है तब वह धीरे-धीरे कर्म वासनाओं की धूल को धो बहाता है। सत्व गुण की वृद्धि से रजोगुणी और तमो गुणी वृत्तियों का त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे ईंधन के बिना अग्नि। इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मा में ही स्थिर निरुद्ध हो जाता है उसे बाहर भीतर किसी प्रकार का भान नहीं होता। एक वाण बनाने वाले में इतनी तन्मयता है कि उसके पास से दल बल के साथ राजा की सवारी निकल गई उसे पता तक न चला। (गुण)

८३—जो अपने मित्र को उसकी चोटी पकड़ कर भी बुरे कार्य से हटाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह किसी का निन्दा का पात्र नहीं होता है। (गुण)

८४—जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूलकर हृदय से सूक्ष्म स्थूलादि शरीरों में अहं बुद्धि कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है तब उसका सत्व प्रधान मन घोर रजोगुण की ओर झुक जाता है।

उसमें व्याप्त हो जाता है। बस जहाँ मन में रजोगुण की प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प, विकल्पों का तांता बँध जाता है। अब वह विषयों का चिन्तन करने लगता है। अपनी दुर्बुद्धि के कारण काम के फंद में फँस जाता है। (गुण)

८५—साधक को चाहिये कि आसन, प्राणवायु पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समय के अनुसार बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे ईश्वर में अपना मन लगावे। इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं बल्कि और भी उत्साह से उसी में जुट जाये।

८६—जैसे लकड़ियों के ढेर को धधकती हुई आग जलाकर खाक कर देती है वैसे ही भक्ति भी समस्त पाप-राशि को पूर्णतया जला डालती है। ईश्वर संतों का प्रिय, वह अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्ति से ही पकड़ में आता है। उसे प्राप्त करने का एक ही उपाय है अनन्य भक्ति।

८७—लौकिक सुख के समान पारलौकिक सुख भी दोष युक्त ही है, क्योंकि वहाँ भी बराबरी वालों से होड़ चलती है। अधिक सुख भोगने वालों के प्रति असूया होती है। उनके गुणों में दोष निकाला जाता है। और छोटों से घृणा होती है। प्रतिदिन पुण्य क्षीण होने के साथ ही वहाँ के सुख भी क्षय के निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट हो जाते हैं।

८८—जगत में जितनी आसक्तियाँ हैं उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार ईश्वर को वश में कर लेता है वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्म पालन और न स्वाध्याय।

बड़े-बड़े प्रयत्नशील साधक योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, श्रुतियों की व्याख्या स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनों के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते परन्तु सत्संग के द्वारा ईश्वर प्राप्त हो जाता है।

८६—जो इस बात को गुरुओं द्वारा समझ लेता है वही वास्तव में समस्त वेदों का रहस्य जानता है। उद्धव . तुम इस प्रकार गुरुदेव की उपासना रूप अनन्य भक्ति के द्वारा अपने ज्ञान की कुल्हाड़ी को तीखी कर लो। उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानी से जीव भाव को काट डालो। फिर परमात्मास्वरूप होकर उस वृत्तिरूप अस्त्रों को भी छोड़ दो और अपने अखण्ड स्वरूप में स्थित हो जाओ। (गुरु)

९०—तुम वाणी को स्वच्छन्द भाषण से रोको। मन का संकल्प विकल्प बन्द करो। इसके लिये प्राणों को वश में करो। इन्द्रियों का दमन करो। सात्विक बुद्धि के द्वारा प्रपञ्चाभि मुख बुद्धि को शान्त करो। फिर तुम्हें संसार में जन्म मृत्यु रूप बीहड़ मार्ग में भटकना नहीं पड़ेगा। जो साधक बुद्धि के द्वारा वाणी और मन को पूर्णतया वश में नहीं कर लेता उसके व्रत, तप और दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं जैसे कच्चे घड़े में भरा हुआ जल।

९१—ईश्वर प्राप्ति के साधनों को न जानता हो तो भगवच्चिन्तन में तन्मय रहने वाले ब्रह्म निष्ठ सद्गुरु की सरण ग्रहण करे। वह गुरु की दृढ़ भक्ति करे, श्रद्धा रक्खे और उनमें दोष कभी न निकले। जब तक ब्रह्म का ज्ञान हो तब तक बड़े आदर से ईश्वर ही गुरु के रूप में समझता हुआ उनकी सेवा करे। (गुरु)

९२—जिससे मेरी भक्ति हो वही धर्म है। जिससे ब्रह्म और आत्मा की

एकता का साक्षात्कार हो वही ज्ञान है। विषयों से असङ्ग निर्लिप्त रहना ही वैराग्य है और आरोग्यादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं।

९३—राम अपने को ब्रह्म कहते थे और आजीवन उसी ब्रह्मत्व के अनुभव में निमज्जन करते रहे। ईश्वर की याद क्षण भर के लिये भी उनके चित्त से नही उतरती थी। थोड़ी सी भी असावधानी होने पर वे कह उठते थे देखो-देखो मैं स्वयं अपना विरोध कर रहा।

९४—मुझमें आत्मविश्वास है। मेरी आत्मा सदा मनुष्य मात्र के लिये प्रेम सागर में गोते लगाती रहती है। इसी कारण सभी मुझे प्यार करते हैं। क्योंकि जहां प्रेम होता है वहाँ कोई काम नहीं। कभी कोई यातना हो ही नहीं सकती।

९५—मन की सम दशा और आत्मविश्वास ने मुझे ऐसा प्रभाव दिया है कि मेरी आवश्यकताएँ बिना माँगे पूरी हो जाती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जो जीवन, उसके परिश्रम, उसके प्रेम की सत्यता को खोजता है अपनी झोली में कुछ जीवन के पके हुए फल इकट्ठा कर लेता है और यदि उदार हृदय हुआ तो उन्हें सड़क के किनारे बैठकर अपने पास से आने जाने वालों में मुफ्त वितरण करता रहता है कभी-कभी तो वह स्वेच्छा से उन लोगों की खोज भी करता है जिन्हें उन फलों की आवश्यकता होती है किंतु ज्यों-ज्यों वह उन्हें बाँटता है त्यों-त्यों उसकी झोली फलों से सदा हरी-भरी रहती है। (प्रेम)

९६—तू मनुष्य है तू ईश्वर है केवल शरीर के केन्द्र में रहना भर छोड़ दे। शरीर चेतना, दिव्य दृष्टि अपने आप प्राप्त हो जाती

है। संसार और उसका अन्धकार तो शरीर चेतना की छाया है वैसे तो ईश्वर चेतना सदा मानवी आत्मा में अपने प्रकाश से चमकती रहती है।

६७—जब कभी हमारे शरीर का कोई अङ्ग गड़बड़ होता है तभी वह हमें सताता है। स्वस्थ पुरुषों को कभी अपने शरीर का ध्यान नहीं रहता वह मानों अनजान में ही उससे काम काज किया करता है।

इसी प्रकार आत्मीय स्वास्थ्य प्राप्त होने पर मनुष्य सदा शरीर की चेतना से ऊपर वर्तने लग जाता है।

६८—वस्तु सत्ता में अपने अनिश्चित विश्वास के चश्मे को अपनी आँखों सेउतार कर फेंक दो। तब सब दिव्य स्वरूप हो जायेग जिन्होंने एक बार भी उस दिव्यस्वरूप ब्रह्म के दर्शन कर लिये है उनके लिये रोगी या दुःखी होना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार दूसरों के लिये सुखी होना दुस्तर है।

६९—त्याग, समर्पण, बलिदान जीवन का नियम है। इधर शरीर की बलि चढ़ा दो उधर शुद्ध आत्मा के रूप में उदय हो। सदाचार और समाज सेवा का यह मुख्य आधार है कि यदि दूसरों कों सुखी करना है तो स्वयं दुःख उठाओ।

१००—गुरु नानक का भी बचन है कि हरि स्मरण के बिना जीवन दाह क्रिया के समान है। स्मरण स्वयं ईश्वर है।

१०१—जो चीज कभी अपनी हो सकती नहीं वह कभी सुख दे सकती नहीं।

१०२—प्रेम सुरा का प्याला पीने के लिये पहले जीवन को भेंट चढ़ाना होगा। लोभी भी अपने को देना तो चाहता नहीं और बातें करता है प्रेम की।

१०३—यदि कभी प्यारे के केशों को छूने की इच्छा हो तो पहले अपने को लकड़ी की भाँति आरे के नीचे रख दे। जिसे चीर-चोर कर वह कंघी बना दे।

१०४—जब तक सुरा पिलाने वाला तुम्हारी मिट्टी के प्याले न बनावेगा तब तक तुम उसके होंठों तक कैसे पहुँचोगे।

१०५—जब तक मोती की भाँति धागों में पिरोये न जाओगे, जब तक नयन बाणों से हृदय छिद न जायगा तब तक उसके कानों में शोभा न पाओगे। यदि खुशी-खुशी मेहदी की पत्तियों की भाँति पिसने के लिये तैयार नहीं तो उसकी हथेलियों को रचने की तुम्हारी आशा झूठी है—स्वप्न-मात्र है।

१०६—जो पूर्णतः निष्पाप नहीं, जो आत्म स्थित नही, जो आत्म सन्तुष्ट नहीं, जो शान्त नहीं, जो परमेश्वर का अपने आप नहीं वह भला उस आनन्द को क्या जाने? क्योंकि उसके मिलने का और दूसरा मार्ग नहीं है।

१०७—जब तक मनुष्य चिन्ताओं और आमोद-प्रमोद की भावनाओं से उद्विग्न रहता है, इच्छाओं और कामनाओं का भूत उसे चैन नहीं लेने देते तब तक बुद्धि का चमत्कार प्रकट नहीं होता। वह सांकल से जकड़ी हुई के समान हिलडुल नहीं सकती, चिन्ताओ और कामनाओं के शान्त होने पर ही उस स्वतन्त्र वायु मण्डल का जन्म होता है जिसमें बुद्धि को खिलने का अवसर मिलता है और पञ्च भौतिक बन्धन कट जाते हैं। शुद्ध साध्वी आत्मा अपने प्रकाश में चमकने लगती है।

१०८—क्या भगवे कपड़े पहनने से कोई साधु बन जाता है ? जां हाँ कहीं भगवा वस्त्रों के नीचे प्रेम में रङ्गा हुआ दिल भी पाया जाता है। कभी-कभी इनके भीतर राम का दिवाना मस्ताना भी झलक मार जाता है किन्तु हर एक मनुष्य उसके सौंदर्य से जगमग चेतना साधु के वस्त्रों में सीमा बद्ध नहीं। सच्ची स्वतन्त्रता तो अच्छी चाल ढाल, रङ्गढङ्ग, कपड़ों के फैशन और रङ्गों की दासता पर अवलम्बित नहीं रहती।

१०९—यदि कोई सच्चे साधु, फकीर, महात्मा के विरुद्ध मुंह खोलने का साहस करे तो निःसन्देह उसकी वाणी कुंठित हो जायगी। जो हाथ किसी साधु को चोट पहुँचायेगा उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

११०—जिसके हृदय में चिरन्तन वसन्त की बहार छिटक रही है, उसको इन ठाठ दिखलाने वाली ऋतुओं के परिवर्तन से क्या ? मागता है वह अपने आप से। और खड़ा होता है उस सूर्य में जहाँ दर्शन होता है। सम्यग दृष्टि से सारी सृष्टि, सारे ब्रह्माण्ड का, सबसे प्रेम करता है और सबको आशीर्वाद देता है, वही है पुण्य की पराकाष्ठा ?

१११—अपनी ही आत्मा में ईश्वर के दर्शन का उपाय है सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग। अपनी सारी इच्छाओं को तिलांजलि दो और नाम की ध्वनि में निवास करो। (आत्मा)

११२—जिस क्षण तुम अपनी इच्छाओं, वासनाओं, मोह और राग द्वेष को परे फेंक दोगे यहाँ तक कि हृदय से प्रकाश और ज्ञान की इच्छा भी उतार कर फेंक दोगे और शान्ति से क्षण भर ओम का जाप करोगे उसी क्षण तुम सारे बन्धनों से मुक्त हो जाओगे।

तुम्हारे हृदय में अचल और अटल शान्ति विराजेगी। तुम्हें न अपने व्यक्तित्व का, न अपने शरीर का, न संसार के किसी पदार्थ का ध्यान रहेगा। बस शान्ति से बैठो।

११३—ज्ञान, कर्म और भक्ति के अतिरिक्त मनुष्य के परम कल्याण के लिये और कोई उपाय कहीं भी नहीं है।

जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं वे ज्ञान योग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलो से वैराग्य नहीं हुआ उनमें दुख बुद्धि नही है वे सकाम व्यक्ति कर्म-योग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं तथा किसी पूर्व जन्म के शुभ कर्म से सौभाग्य वश ईश्वर में जिनकी श्रद्धा हो गयी है वह भक्ति योग का अधिकारी है। उसे भक्ति योग के द्वारा ही सिद्धि मिल जाती है। कर्म के अनुसार तभी तक कर्म किया जाय जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होने वाला स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक ईश्वर लीला कथा में, श्रवण कीर्तन में श्रद्धा न हो।

११४—इस संसार-सागर से पार जाने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहण मात्र से ही गुरुदेव उसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं। स्मरण मात्र से ही अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगती है। इतनी सुविधा होने पर भी जो शरीर के द्वारा संसार सागर से पार नहीं हो जाता वह अपने हाथों अपनी आत्मा का हनन अधःपतन कर रहा है।

११५—समदर्शी महात्मा न किसी के सताने से दुःखी होता है और न पूजा करने से सुखी। जो समदर्शी महात्मा गुण और दोष की भेद दृष्टि से ऊपर उठ गये हैं वे न तो अच्छे काम करने वालों की स्तुति न बुरे काम करने वालों की निन्दा करते हैं। न अच्छी बात सुनकर सराहना ही करते है न बुरी बात सुनकर किसी को झिड़कते ही हैं; जीवनमुक्त पुरुष कुछ भला या बुरा काम भी नहीं करते, न भला बुरा सोचते ही है। वे व्यवहार में अपनी समान बुद्धि कर आत्मानन्द में ही मगन रहते हैं। जड़ के समान मानो कोई मूरख हों विचरण करते रहते हैं। (गुण)

११६—जो देवता एक शरीर में है वह दूसरे में भी है। ऐसी दशा में यदि अपने ही शरीर के किसी अङ्ग में चोट लग जाय तो भला किस पर क्रोध किया जायगा? यदि ऐसा माने कि आत्मा सुख दुःख का कारण है तो वह अपना आप ही है। दूसरा कोई नही क्योंकि आत्मा से भिन्न वस्तु कोई है ही नही। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या हीहैं। इसलिये सुख है न दुःख। फिर क्रोध किस पर किया जाय। क्रोध का निमित्त ही क्या? (आत्मा)

११७—संत पुरुषों का लक्षण है कि उन्हे किसी भी वस्तु की कभी भी अपेक्षा नही होती। उनका चित्त ईश्वर में लगा रहता है। उनके हृदय में शान्ति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सर्वदा सर्वत्र सब रूप से स्थित परमात्मा का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहंकार का लेश मात्र भी नहीं होता। फिर ममता की सम्भावना ही कहां है। वे सर्दी-गर्मी आदि सुख दुःख द्वन्द्वों में एक रस रहते हैं। तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक

और पदार्थ सम्बन्धी किसी प्रकार का भी परिग्रह नहीं रखते। (संत)

११८—जैसे सूर्य-आकाश में उदय होकर लोगों को जगत तथा अपने को देखने के लिये नेत्र दान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपने को तथा भगवान को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। संत अनुग्रह शील हैं। देवता हैं। संत अपने हितैषी सुहृद हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या परमात्मा ही संत के रूप मे विद्यमान रहते हैं। (संत)

११९—ईश्वर भक्त कृपा की मूर्ति होता है, वह किसी भी प्राणी से वैर भाव नहीं रखता और घोर से घोर दुःख भी प्रसन्नता पूर्वक सहता है। उसके जीवन का सार है सत्य। उसके मन में किसी प्रकार की पाप वासना कभी नही आती। वह समदर्शी और सबका भला करने वाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती। वह संयमी, सरल और पवित्र होता है। वह संग्रह और परिग्रह से सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तु के लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल ईश्वर का ही भरोसा होता है। वह आत्म-तत्व के चिन्तन में सदा संलग्न रहता है। वह प्रमाद रहित गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान होता है। भूख, प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वश में रहते हैं। वह स्वयं तो किसी से कभी किसी प्रकार का सम्मान नहीं चाहता। परन्तु दूसरों का सम्मान करता रहता है। ईश्वर भक्ति की बातें दूसरों को समझाने में बड़ा निपुण होता है। और सभी के साथ मित्रता का व्यवहार करता है। उसके हृदय

में करुणा भरी होती है। ईश्वर तत्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है। ईश्वर ही ने वेदों और शास्त्रों के रूप में मनुष्यों को धर्म का उपदेश किया है। उनके पालन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। उनके उल्लंघन से नरकादि दुःख प्राप्त होते हैं। परन्तु भक्त उन्हें भी अपने ध्यान आदि में विक्षेप समझ कर त्याग देता है। केवल ईश्वर भजन में लगा रहता है। ईश्वर कौन है, कितना बड़ा है, कैसा है इन बातों को जाने या न जाने किन्तु जो आनन्द भाव से ईश्वर भजन करते हैं वे ईश्वर के परम भक्त हैं। (भक्ति)

१२०—जिसका चित्त परब्रह्म परमात्मा में संलग्न हो वह सुख के अपार सिन्धु में निमग्न हो गया है। उसका कुल पवित्र, उसकी माता कृतार्थ हो गई। उसको प्राप्त करके सारी पृथ्वी भी सौभाग्यवती हो गयी। (ज्ञान)

१२१—प्यारे! वह स्थायी मुकाम जिस पर खड़े होकर ब्रह्माण्ड को हिला सकते हो; वह स्थिर बिन्दु आपकी अपनी आत्मा ही है। वहाँ जम कर अपने स्वरूप में स्थित होकर जो संचार और शक्ति उत्पन्न होगी वह समस्त ब्रह्माण्ड को हिला सकती है। (आत्मा)

१२२—यह शरीर तो एक दिन छूटने ही वाला है। नदी की धारा में बहा दिया जायेगा या लकड़ियों के ढेर लगाकर फूंक दिया जायगा। अथवा सुगन्धित, चन्दन की चिता में जला दिया जायगा। जो मर कर भी जिन्दा रहते हैं उन्हीं का सुयश दिग-दिगन्त में फैलता है। उन्ही के वियोग में लोग रोने लगते हैं।

श्री सतगुरू देव जी कहते हैं कि तुम हम ही में ज्ञान का विचार करते हो। जब तक मन्मुख हो अथवा बहिर्मुख हो तब तक हम से अलहदा रहते हो। अन्तर्मुख अथवा गुरूमुख होने के साथ ही तुम और हम दोनों एक ही पदार्थ हैं। अभेद होकर विचार के जरिये राम रूप को अपने ही घट भीतर पाते हैं। (गुरु)

१२३—धर्मात्मा वही है जो हृदय को हिला देने वाले अवसरों में चित्त को वश में रक्खे। शोक और क्रोध को प्रवेश न होने दे।

१२४—हम ईश्वर का प्रकाश हैं जो इस शरीर रूपी घर में व्याप्त है। हम वह अमृत हैं जो इस देह रूपी नगर में रहता है। (ज्ञान)

१२५—हमीं संसार के ऋणी हैं, संसार हमसे कुछ नहीं चाहता। यह हमारा सौभाग्य है कि हमें संसार में कुछ करने का अवसर मिलता है। संसार की सहायता करने से वास्तव में हमारा ही कल्याण होता है।

१२६—यह संसार चरित्र गठन के लिये एक विशाल व्यायामशाला है। इसमें हम सब को व्यायाम करना चाहिये। जिससे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करके उत्तरोत्तर उन्नतिशील बनते रहें।

१२७—संसार में हमें कई प्रकार के मनुष्य मिलेंगे। प्रथम देव प्रकृति के जो पूर्ण त्यागी पुरुष कहे जा सकते हैं। वे जीवन की बाजी लगाकर दूसरों का हित करते हैं। यही आत्म-त्यागी पुरुष सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं।

दूसरे साधु-प्रकृति जो अपने और दूसरों की भलाई वहाँ तक करते हैं जहाँ तक कि उनकी स्वयं की हानी न हो। तीसरी श्रेणी उन आसुरी-प्रकृति मनुष्यों की है जो अपनी भलाई के लिये दूसरों की अकारण ही हानी करते हैं।

१२८—कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य चक्र तभी हलका होकर आसानी से चलता है जब उसके पहियों में प्रेम रूपी चिकनाई लगी हो। नहीं तो निरन्तर एक घर्षण सा ही रहता है।

कर्तव्य पालन की मधुरता प्रेम में ही है। प्रेम का विकास केवल स्वतन्त्रता में ही होता है। (कर्तव्य)

१२९—संस्कृत में दो शब्द हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति का अर्थ है वाह्य वस्तुओं की ओर खिचना। निवृत्ति का अर्थ है, उनसे परे होना। प्रवृत्ति ही संसार तथा 'मैं' और 'मेरा' है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कर्म स्वरूप हैं। निवृत्ति ही समस्त नीति और धर्म की मूल है। इसकी पूर्णता सम्पूर्ण आत्म त्याग तथा दूसरों के प्रति अपना तन मन सर्वस्व अर्पण करना है। जब मनुष्य इस अवस्था को पहुँच जाता है तब उसको कर्म योग में सिद्धि प्राप्त होती है।

१३०—संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है वह मन से ही किया है। विश्व का असीम पुस्तकालय हमारे मन में ही विद्यमान हैं।

१३१—कोई तुमको तंग करता है तो अपनी बुद्धि को मत खो बैठो। अपने धर्म का पालन करने में मत चूको। तंग करने वालों

पर प्रेम का भाव रखो। उन पर कभी अप्रसन्नता, नाराजगी-न दिखाओ। जो काम हाथ में लो अधूरा मत छोड़ो। जो बाधायें डालता है वह तुम्हारा बन्धु ही है। उन पर क्रोध कैसे कर सकते हो ?

मान लो कोई तुम्हारी निन्दा करता है। निन्दा से जो बिगड़ता है उसी का बिगड़ता है। तुम्हारा नहीं। अपनी वाणी या कार्य को निन्दा के योग्य मत बनाओ। कोई तुम्हारे साथ शत्रुता भी करे तब भी तुम्हारा व्यवहार शत्रु के सदृश नहीं होना चाहिये। प्रेम से उसे समझाओ। समझाते समय उसकी त्रुटियों पर ध्यान न दो। साथ-साथ अपनी सहिष्णुता को भी बढ़ा-चढ़ा कर मत दिखाओ। अपने हृदय की सद्भावनाओं से उनके मन का परिवर्तन करने का प्रयत्न करो। क्रोध को दूर कर ईश्वर की साक्षी में तुम अन्तःकरण को शुद्ध रखो। अपने धर्म का ठीक से पालन करते जाओगे तो तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

१३२—जब मन में क्रोध आये तब इन बातों को ध्यान में लाओ—

१—संसार में हम एक दूसरे की ही सेवा निमित्त उत्पन्न हुए हैं। सांड़ जैसे गायों के झुण्ड के आगे चलता है इसी प्रकार दूसरों को रास्ता बताते हुए चलना चाहिये। क्रोध नहीं करना चाहिये।

२—जिन पर तुम नाराज होते हो क्या तुम उनके स्वभाव को नहीं जानते ? उनका खान-पान, रहन-सहन, उनकी अल्प-बुद्धि सभी कुछ तो तुम जानते हो।

३—असल में जो उन्होंने किया वह उचित था या अनुचित ?

यदि उचित था तो क्रोध का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि अनुचित था तो भी यह निश्चय है कि उन लोगों ने जानबूझ कर भूल की हो तो भी अनिच्छा-पूर्वक ही की होगी। इसलिए उन्हें तुम दोष नहीं दे सकते। जिस कारण बस प्रेरित हुए हों वे कारण ही वास्तव में दोष के पात्र होने चाहिये।

४—हर एक काम के अनेक कारण होते हैं। अच्छी तरह सोचे विना हम किसी काम को गलत कैसे मान लें।

५—क्रोध करना पौरुष या वीरता का चिन्ह नहीं है। मिठास के साथ बोलने में और सहन शक्ति में ही बहादुरी है। जितना भी मन को स्थिर रक्खोगे उतना ही तुममें बल आवेगा। जो क्रोध को रोक नहीं सकता वह कायर और निर्बल होता है। वह अवश्य दुःख पाता है। दूसरे पर क्रोध करना जितना बुरा है उतना ही किसी की मिथ्या प्रशंसा करना है।

६—जिस वस्तु को तुम दुःख प्रद समझ रहे हो उससे कहीं अधिक हानि तुम्हें अपने क्रोध से पहुँच रही है।

७—प्रेम में ही सफलता है। प्रेम अजेय है यदि सच्चा हो तब यदि केवल दिखावे का प्रेम है तो उसमें कोई शक्ति नहीं। तुम्हारे हृदय में कभी प्रेम का घाटा न हो। जब कभी अवसर मिले ऐसी मीठी वाणी से समझाओ कि वह मनुष्य चाहें कितना ही अप्रिय कार्य क्यों न करता हो समझाने में परिहास या कटुता न आने पाये। ऐसा आभास न हो कि तुम प्रवचन कर रहे हो। इस विचार से उपदेश न दो जिससे तुम्हारी प्रशंसा हो। उसे अलग बुलाकर इस प्रकार बातें करो मानो स्वयं तुम अपने अन्तःकरण से बात कर रहे हो।

१३३—आप ही प्रत्येक वस्तु हैं, भूत-प्रेत तथा देव-दूत, पापी-पुण्यात्मा सब आप ही तो हैं। इस बात का अच्छी प्रकार अनुभव कर लीजिये। आप मुक्त हैं; यही त्यागी का मार्ग है।

त्याग क्या है? अहंकार मुक्त जीवन ही त्याग है। निःसंशय अमर जीवन व्यक्तिगत और परिछिन्न जीवन को खो डालने से ही मिलता है। केवल त्याग ही अमरत्व प्राप्त कराता है।

वेदान्तिक त्याग कैसे हो? आप को सदा त्याग की चट्टान पर ही खड़ा होना पड़ेगा। अपने आपको इस उत्कर्ष-दशा में दृढ़तापूर्वक जमा कर जो काम सामने आये उसके प्रति अपने आपको पूर्णतः अर्पण करना होगा। तब आप थकेंगे नहीं, फिर कोई भी कर्तव्य हो आप उसे पूरा कर सकेंगे। त्याग का आरम्भ सबसे निकट और सबसे प्रिय वस्तुओं से करना चाहिये। जिसका त्याग परमावश्यक है, वह है मिथ्या अहंकार अर्थात् 'मैं यह कर रहा हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' यही भाव हम में मिथ्या व्यक्तित्व को उत्पन्न करते हैं। इनको त्याग देना चाहिये। (त्याग का मार्ग)

१३४—"परोपकारः पुण्यय, पापाय परपीडनम्"
केवल दूसरों के प्रति उपकार को पुण्य और अपकार को पाप समझा जावे तो स्वार्थपरता का बीजांकुर उदय ही नहीं होगा और न आये दिन युद्ध तथा विनाशकारी भयंकर दृश्य ही उपस्थित होंगे।

१३५—जो मनुष्य जीवन में केवल एक वस्तु ढूंढता है यह आशा कर सकता है कि जीवन समाप्त के पहले उसे वह मिल जायेगी।

१३६—मनुष्य की सच्चाई का अन्तिम प्रमाण यह है वह अपने सिद्धान्तों के लिए कुछ बलिदान करने को तैयार रहें।

१३७—कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-भृङ्ग।
मीना: हता पञ्चाभि रेन पञ्च।
एक: प्रमादी स कथ न हन्यते,
या सेवते पञ्चाभिरेव ।।

१—हरिण—शिकारी का गीत सुन कर श्रवणन्द्रिय मारा जाता है।
२—हाथी—स्पर्शेन्द्रिय दोष से गड्डे में गिरा कर मारा जाता है।
३—पतङ्ग—दीपक का रूप देखकर चक्षुरेन्द्रिय के कारण मारा जाता है।
४—भौंरा—रस के लोभ से जिह्वा दोष के वशीभूत होकर कमल की पखुड़ियों में बंध जाता है।
५—मछली—गन्ध के वश में होकर काँटे में लगी वस्तु को निगल कर घाणेन्द्रिय दोष द्वारा मारी जाती है।

ये पाँच जन्तु पाँच इन्द्रियों के अनिग्रह से मारे जाते हैं। अर्थात् एक-एक इन्द्रिय दोष से एक-एक जन्तु भरता है। किन्तु उस मानव का क्या कहना जिसके शरीर में ही पाँचों दोष हैं। अत: इन्द्रिय निग्रह कितना आवश्यक है। जितेन्द्रिय वही है जिसे कोई भी इन्द्रिय विषय लुभा न सके, वही धर्मशील हो सकता है।
(इन्द्रिय-निग्रह)

१३८—संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसने जाने अनजाने में कोई भी अपराध न किया हो। अत: क्षमा सभी के लिये आवश्यक है यदि क्षमा न हो तो संसार में आये दिन नये झगड़े खड़े हो जायें। अशान्ति का सफर लहरा जाय। मित्रता का भाव सदा के लिये विदा हो जाय।

'क्षमा बड़न को चाहिये छोटन के अपराध' क्षमा शस्त्र करे यस्य तस्य दुर्जनः किं करिष्यति' क्षमा ऐसा अजेय अस्त्र है कि जिसका दुर्जन भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। (क्षमा)

१३९—जिस कार्य के द्वारा एक समय असफलता हो सकती है, सम्भव है उसी से दूसरे समय बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हो जाय।

१४०—जीवन की क्या अभिलाषा है। परोपकार, दूसरों का यश गाओ, दान दो, सन्त समागम करो।

यदि माँगते हो तो ईश्वर से माँगो वही सामर्थ्यवान है। यदि देना चाहते है तो—निस्सहाय, अनाथों, गरीबों को दो वही देने के पात्र हैं।

बनना चाहते हो तो ब्रह्म स्वरूप बनो। प्राप्त करना चाहते हो आत्मा की प्राप्ति करो।

सीखना चाहते हो तो ब्रह्म ज्ञान सीखो। तीनों आश्रमों के लिये इससे बड़ा सुख और इससे उत्तम अन्य कोई ज्ञान नहीं है। राजा जनक भी ब्रह्मज्ञानी थे और शुकदेव जी भी ब्रह्म ज्ञानी थे। दोनों धर्मों के लिये ब्रह्म ज्ञान उत्तम है।

यदि छोड़ना चाहते तो—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, रोष, द्वेष, वैर, प्रीति, पर निन्दा छोड़ो अर्थात् जीवत्व का त्याग करो।

प्रेम करना चाहते हो तो—सर्व व्यापी ईश्वर से प्यार करो।

यदि भगवान को पाना चाहते हो तो प्राणी मात्र से प्यार करो।

१४१—किसी के कुछ कहने पर क्रोध आना अपने भीतर के मल का उभर कर बाहर निकलना है।

निर्मल नीर सरोवर में जब पत्थर फेंका जाता है।
अन्तर्मल ऊपर आ जाता है जब अस्वच्छ हो जाता है॥

पत्थर सदृश कठोर शब्दों से मुझे क्रोध जो आ जाता है।
अन्तर छिपा हृदय मल मेरे ही ऊपर आ जाता है॥
कुवचन का क्या दोष जो अन्तर्मल निकाल दिखलाता है।
मैं उपकार मानता जो यों मल को दूर हटाता है॥
सागरवत गम्भीर बना दो क्षमी सहिष्णुचरित्रो समान।
विधु सम विमल बना दो, मेरी यही नित्य विनती भगवान॥

१४२—केवल बातों से मुमुक्षु को सूक्ष्मतम ब्रह्म का साक्षात्कार होना असम्भव है। वैराग्य द्वारा अन्तःकरण की स्थूलता के दूर होने और निदिध्यासन रूप अन्तःकरण की एकाग्रता से अचञ्चलता प्राप्त करने पर मुमुक्षु को ब्रह्म का दृढ़ साक्षात्कार होता है।

१४३—परोक्ष में सच्चे एवं उत्तम स्नेह की परीक्षा होती है।

१४४—पाप नहीं। शोक नहीं। कष्ट नहीं। अपने आनन्द स्वरूप से सुरक्षित। भय मेरे भाग गये, शङ्कायें मेरी कट गई, मेरी विजय प्राप्ति का दिन आ पहुँचा।

१४५—अपना भाग्य खोटा मानकर निराश नहीं होना चाहिये। अपने कर्तव्य का पालन करने वाला ही उन्नति कर सकता है। उससे भाग्य का सम्बन्ध नहीं है। भाग्य के भरोसे आलसी बन जाना तो मूर्खता है।

१४६—किसी की वस्तु को अपनी मानकर उसका उपभोग अपने लिये करना संग्रह की हुई वस्तु में ममता और आसक्ति करना साधन में बड़ा भारी विघ्न है।

१४७—नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम मानव बने। पर इन सबसे मानव बनना अच्छा है। मानव इश्वर न बने तो दानव भी न बने। मूलधन तो सुरक्षित रक्खें। ब्याज मिले या न मिले।

१४८—संसार के किसी भी पदार्थ के ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को प्रथम अपने हृदय में श्रद्धा का संचार करना चाहिये। श्रद्धा की उत्पत्ति तभी होगी जब मानव स्वयं को उसके योग्य बनायेगा। यह योग्यता भी तभी प्राप्त होगी जब संयम नियम आदि व्रतों को धारण करेगा। इस प्रकार व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा क्षिणा से श्रद्धा, श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। मानव को चाहिये कि सत्यानुस्मरण पूर्वक ही व्यवहार करे। सत्य की ही खोज करें सत्य पथ पर ही चलें। सत्य साहित्य का ही अध्ययन करें। सत्य व्यवहार द्वारा ही परम परमार्थिक सत्य सनातन में अवगाहन करें। यही मानव का उत्तम पथ होगा।

१४९—मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महा पुरुष का संसर्ग ये तीन बात पाना बड़ा ही कठिन है। ये तीनों बिना ईश्वर कृपा नहीं मिलती। मुक्ति के लिये सब से आवश्यक वस्तु है मनुष्यत्व इसके बाद मुमुक्षता का नम्बर आता है। हमारे सम्प्रदाय और व्यक्ति भेद से साधन प्रणालियाँ भिन्न भिन्न हैं।

१५०—जिसे वेदों का रहस्य-ज्ञान है, जो निष्पाप है। जिसे कोई इच्छा न हो। जिसका लक्ष्य परोपकार के सिवाय कुछ न हो। जो

अहेतुकी दया सिन्धु है, जो किसी लोभ के उद्देश्य से मान या यश के लिये उपदेश नहीं देता; जो ब्रह्म को भली भांति जानता है। जिसने ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया है जिसने ईश्वर को कर-तलामलकवत किया है वही गुरू होने योग्य है। उसी के साथ आध्यात्मिक योग होने से ईश्वर प्राप्ति होगी। ईश्वर प्रत्यक्ष और सुगम होगा। इसके बाद साधन और अभ्यास से काम न चलेगा। जिस समय दृढ़ अभ्यास हो जायगा उसी समय ईश्वर प्रत्यक्ष हो जायेगा।

१५१– धर्म का सारतत्व अपने ऊपर से पद को हटाना है अर्थात् अपने आपका रहस्य जानना है।

१५२—जब तक आप स्वयं अपने हृदयस्थ अन्धकार को दूर करने के लिये उद्यत नहीं होते तब तक संसार में चाहे तीन सौ तेंतीस कोटि मुक्ति दाता आ जावें तो भी, आपका कोई भला नहीं हो सकता. इस बात में दूसरों का आश्रय मत लो।

१५३—यदि तुम बड़े होना चाहते हो तो अपने आस-पास के बड़े दीखने वाले लोगों को पीछे मत ढकेलों उनको किसी तरह नीचा दिखाने या छोटा दिखाने की भी कोशिश मत करो। अपने आपको उनसे बड़ा बना लो। वे स्वयंमेव ही तुमसे छोटा दीखने लगेंगे।

१५४—सच्चाई पूर्वक सत्साधनों के अनुष्ठान से जब अन्तःकरण के मल विक्षेप रूप दोष दूर हो जाते हैं तब वेदान्त के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से विशुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है। जिसके प्रकाश में अखण्ड आनन्द का और पूर्ण शान्ति का लाभ होता है। (आनन्द)

१५५—आत्मा के सिवा और कोई आनन्द का दूसरा स्थान नहीं है। आनन्द का भंडार यदि है तो वह केवल अपना आप ही है। उसी में स्वतन्त्रता है उसी में शान्ति, उसी में आनन्द है।

१५६—प्रत्येक को स्वतन्त्रता का आनन्द प्यारा है। क्यों न हो स्वतन्त्रता तो मुक्त पुरुष का स्वरूप ही है। अपना स्वरूप प्रत्येक को निस्सन्देह प्यारे से भी प्यारा होता है।

प्यारों ! जो निज स्वरूप अपनी आत्मा में निष्ठा रखता है वह स्वतन्त्र ही है। क्योंकि आत्मा स्वतन्त्रता का ही भन्डार है। जो मनुष्य अपने स्वरूप का यानी अपनी आत्मा का साक्षत्कार नहीं करता वह इस लोक में भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता न परलोक में अविनाशी आनन्द को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानवान पुरुष ही इस संसार के पदार्थों और बन्धनों से मुँह मोड़ कर मुक्ति के अमृत को प्राप्त करते हैं।

१५७—अपनी सार्वभौमिक प्रतिभा और प्रतिष्ठा ही एक महान बल है। सत्य वाणी, सत्य विचार और सत्य कार्य की सृष्टि से परमाणु सत्य वाणी की शिला पर निर्मित होते हैं।

जिस कार्य के करने में स्वाभाविक प्रसन्नता और शान्ति का अनुभव हो वही कार्य ठीक है। अन्तरात्मा की प्रेरणा पर ध्यान से हम सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व का उचित मार्ग निर्देश प्राप्त कर सकते हैं यही हमारे जीवन का निर्माण करने तथा शान्ति एवं आनन्द के आवाहन का श्रोत हैं। ठीक मार्ग जानते हुए भी विषय गामी होना अन्तरात्मा की वाणी का हनन करना है। (शान्ति)

१५८—विपति के बिना पृथ्वी पर किसी की महिमा कैसे प्रकट हो सकती है।

१५९—पश्चाताप ही पाप करनेवाले पपियों के लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित है। सत्पुरुषों ने सबके लिये पश्चाताप को ही सब पापों का साधन बतलाया है।

१६०—यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अविवेक इनमें से एक-एक भी अनादि का कारण होता है, फिर जहाँ ये चारों मौजूद हों वहाँ के लिये क्या कहना।

१६१—जिस कार्य में मनुष्य जब एकाग्र मन अथवा तन्मय होकर लग जाता है तब वह कार्य सरलता पूर्वक सम्पन्न होता है। एकाग्र मन से कार्य करने के अभ्यास से प्राणों का भी अभि-सिंचन होता है। तथा अधूरे मन से कार्य करने को प्रवृत्ति मनुष्य को मृत्यु की ओर ले जाती है।

जिस व्यक्ति में जितने अधिक समय तक मन को एकाग्र बनाये रखने की क्षमता होती है, वह उतना ही अधिक कार्य श्रम, प्रतिभाशाली और महान होता है। उसके प्रतिकूल चंचल मन वाला व्यक्ति आलसी एवं पराक्रम हीन होता है।

मन की चरम एकाग्रता ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है जिसे भगवत प्राप्ति की अवस्था कहते हैं। यह परमानन्दिनी अवस्था केवल निरन्तर अभ्यास के संघर्ष से एवं ईश्वरीय अनुकम्पा से ही मनुष्य को प्राप्ति हो सकती है।

मन की एकाग्रता का वह आनन्द वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। न लिपि से ही लिपिवद्ध किया जा सकता है। तृष्णा रहते हुए भी मन की स्थिरता असम्भव है। इसलिये भगवान श्री कृष्ण ने गीता में निष्काम और निरहंकार बनाने का उपदेश दिया है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो साधन-पथ की

इच्छा रखता हुआ मन को वश करने की कामना न रखता हो अतः श्रेयाभिलाषी साधक शनैः-शनैः मन को वश में करे तभी एकाग्रता तथा आत्मानुभूति होगी।

१६२—"जो सत्य से पवित्र किया गया हो वही बोलना चाहिये।" भीष्म पितामह ने वाणों की शैय्या पर, "सत्येषु यतितव्यम् वः सत्यं हि परमं बलं" वचन को ही सब धर्मों का सार बतला कर सत्य के अनुसार व्यवहार करने के लिए युधिष्ठर आदि सब लोगों को उपदेश करते हुए प्राण छोड़े।

सत्य परमेश्वर का नाम है। सत्य ही दैवी-सम्पत्ति का आधार है। सत्य ही विश्व का आधार है। सत्य का पालन ही धर्म का पालन है। सत्य का पालन न होना ही आत्म-घात है। सत्य से सम्पूर्ण सिद्धियाँ मिलती हैं आत्मोन्नति के लिये सत्य का पालन आवश्यक है। ऐसा ही सब महात्माओं विद्वानों और संतों ने कहा है। सत्य की अंतिम मंजिल तक तो कोई सत्यदर्शी, स्थिरप्रज्ञ महात्मा ही पहुँच सकता है। सत्य स्वयंसिद्ध चिरस्थाई है।

सत्य बोलना अच्छा है—परन्तु सत्य से भी अधिक अच्छा है जिससे प्राणियों का अधिक हित हो।

१६३—आत्म-कृपा, गुरु-कृपा, शास्त्र-कृपा ईश्वर के आधीन है। बिना इनके ज्ञान नहीं होता। बिना ज्ञान अनुभूति नहीं होती। कर्म के द्वारा मल नाश, उपासना के द्वारा विक्षेप नाश और ज्ञान के द्वारा आवरण भंग होने पर यह 'स्वयं-प्रकाश वस्तु' स्थिति प्राप्त होती है।

१६४—मैं विश्वविजयी बन सकता हूँ काश स्वयं पर विजय पा सकता!

१६५—आध्यात्मिक तत्व ही सबसे ऊँचा तत्व है। विचारों को वश में रक्खो। इन्द्रियों का निग्रह करो। ईश्वर पर श्रद्धा रक्खो। सदा परहित में लीन रहो। शेष सब विषयों को तुच्छ समझो। मन को इधर-उधर न भागने दो अन्यथा उसके वेग को रोकना कठिन हो जायगा। दुखों का निवारण मन का वेग रोकने में ही है। धन, दौलत, कीर्ति यह सब वृथा है। (अध्यात्म)

१६६—तुम्हारा शास्त्र तत्व ज्ञान है। मौका पड़ने पर काम में लाने की स्थिति में अपने ज्ञान को रक्खो। क्या मालूम कब दैव या मनुष्य तुम्हारे ऊपर हमला कर दे। और तुम नितान्त विवश और दुःखी हो जाओ। ज्ञान से उसका सामना करो। छोटे या बड़े काम करते हुए यह याद रक्खो कि तुम्हारे और दूसरों के बीच सम्बन्ध हमेशा रहता है। परमार्थ समझे बिना ऐहिक जीवन सम्पूर्ण नहीं हो सकता। प्राकृतिक धर्म को भूलकर तुम परमार्थ की ओर नहीं जा सकते। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

१६७—शोक चिन्ता से होता है, इसलिये चिन्ता छोड़ो।

१६८—जो मेरे तुम्हारे गुण को नहीं बिगाड़ सकता वह जीवन को भी नहीं बिगाड़ सकता। उसे हानि नहीं पहुँचा सकता।

१६९—कुछ लोग एकान्त की खोज में रहते हैं। समुद्र तट पर, पहाड़ों में, वन और निर्जन स्थानों में आश्रम बना कर रहने लगते हैं। क्या तुम भी यही करना चाहते हो? इससे बढ़कर और कोई मूर्खता नहीं होगी। जब चाहो कहीं भी एकान्त स्थान पाना शक्य है। अच्छे विचारों और साधन से चित्त को जो शान्ति प्राप्त हो सकती है। क्या उससे अधिक एकान्तवास में मिल सकती है? जब आवश्यकता पड़े तब मन रूपी एकान्त

आश्रम प्रवेश करो। उससे उन्हें शान्ति मिलेगी। शक्ति बढ़ेगी। वहाँ एकाग्र चित्त से तत्व का चिन्तन करो उससे राजकीय समस्याओं या उलझनों को भूल जाओगे। दुनिया के संकटों का सामना करते हुये मन को प्रफुल्लित रखना यही एक औषधि है।

७०—मन में चंचलता पैदा करने वाली चीजों से दूर रहना कुछ कठिन नहीं। असल में हम अपनी शक्ति को पहचान नहीं रहे हैं।

७१ परमार्थ को सुधारों और व्यवहार में भी त्रुटि न आने दो, यही विवेक है, प्रत्येक स्थान, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक शरीर में प्रत्येक यज्ञ में दान अथवा ग्रहण न तो ईश्वर पर निर्भर है न हमारे भाग्य पर और न विधाता के हाथ में है। उसके अगर कर्त्ता हैं तो हम, भर्ता हैं तो हम। जो इस तथ्य को जान लेगा वही वास्तविक विवेकी होगा।

७२—कार्य अधिक है; समय कम है, जीवन छोटा है, अतीत बीत गया, वर्त्तमान चल रहा है। अब भविष्य अच्छा हो, यह पग-पग पर ध्यान रखना चाहिये। संसार में सभी वस्तुओं का मूल्य है। किन्तु समय अमूल्य है। वह किसी मूल्य पर वापिस नहीं आ सकता। इसलिये ऐसा कार्य करो जिससे एक भी क्षण व्यर्थ न जाय।

१७३—पृथ्वी में जल सर्वत्र व्यापक है, परन्तु स्थान विशेष के खोदने पर ही वह शुद्ध रूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार परमात्मा-तत्व के सर्वत्र व्यापक रहते हुये भी उसके शुद्ध स्वरूप

(निरावरण ब्रह्म) को साधन विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जाता है। इसी यत्न का नाम योग है।

१७४—अपनी वृत्ति को बदलना ही राम रूप होना है।
जहाँ तीव्र इच्छा है वहाँ रास्ता भी है।

१७५—धर्म विरुद्ध इच्छा करने से किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। धर्म के विरुद्ध इच्छा से मनुष्य का कोई भी कर्म अथवा संकल्प सफल नहीं हो सकता।

१७६—मैं इस बात पर तुला हूँ कि तुम्हारे हृदय में ब्रह्म भाव की गरज पैदा कर दूँ। चाहे इस ब्रह्म भाव को अपना कहूँ या तुम्हारा मैं अपने प्रत्येक कर्म और गति से यही घोषित करूँगा।
(अनुभूति)

१७७—तेरी छाती में धड़कने वाला, तेरी आँखों में देखने वाला, तेरी नाड़ी में फड़कने वाला, बिजली में हँसने वाला, नदियों में गरजने वाल, पहाड़ों में शान्त रहने वाला जो है वही तो राम है।

१७८—पाप और पारा कोई पचा नहीं सकता। यदि कोई छिपा कर पारा खा ले तो किसी न किसी दिन वह शरीर से फूट निकलेगा। इसी प्रकार पाप का फल एक दिन निश्चय ही भोगना पड़ेगा। (कर्म फल)

१७९—ड्यूटी अर्थात् ऋण चार प्रकार के हैं।

प्रथम ऋण परमेश्वर की तरफ।
द्वितीय ऋण—मानव की तरफ।

तृतीय ऋण – देश की सेवा ।

चतुर्थ ऋण – अपनी ओर

अन्त में ये चारों ऋण एक में समा जाते हैं। वह ऋण क्या है ? जो आप का अपनी ओर है। जो लोग अपना ऋण अपने आपके प्रति पूरी तरह से अदा कर देते हैं उनके शेष ऋण अपने आप ही अदा हो जाते हैं।

१८०—भक्ति मार्ग में स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव महा भाव के क्रम से अद्वैतावस्था प्राप्त होती है, इस क्रम से प्राप्त अद्वैतावस्था का नाम ही मधुर भाव कान्त भाव या महा भाव है। यह भाव हृदय की द्रवता के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यही बुद्धि के चरम विकास का फल है

१८१—विद्वान केवल एम० ए० पास वाले को नहीं कहते। विद्या का अर्थ लाइट अर्थात् प्रकाश है वह अध्यात्म विद्या है।

१८२—अपकीर्ति के समान कोई मृत्यु नहीं है। क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है। मोह के समान कोई नशा नहीं है। निन्दा के समान कोई पाप नहीं है। असूया के समान कोई अपकीर्ति नहीं है। काम के समान कोई आग नहीं है। राग के समान कोई बन्धन नहीं है। आसक्ति के समान कोई विष नहीं है। राग द्वेष से रहित हीं 'वैराग्य' है।

१८३—इच्छा एक विमारी है वह आप को दुविधा में रखती है।

१८४—याद रक्खो जों मनुष्य आत्म-संयमी नहीं है उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होती। आत्म-संयम दान, यज्ञ और ज्ञान से भी बढ़ कर है।

१८५—हमें लोभ को जड़ से उखाड़ कर फेंकना होगा । संसार म
प्राणियों को लोभ से मुक्त करने के लिए केवल उपदेश
उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती । हमें इस तत्व को
जीवन में उतरना होगा ।

१८६—जब मैं इच्छाओं से परे गया तो इच्छाएँ स्वतः ही पूर्ण ह
बहुत सी इच्छाओं में वास्तविक स्वरूप का मुह ढँका हुआ
अब पर्दा हट गया ।

अब कहते हैं, जब भी तुम योग्य अधिकारी होगे इच्छा
विना ही मुरादें पूरी हो जायेंगी ।

१८७—भावना अन्तःकरण की एक वृत्ति है । सङ्कल्प, चिन्तन,
इसी के नाल हैं । भावना तीन प्रकार की होती है । सात्वि
राजसी और तामसी । आत्मा का कल्याण करने वाली जो ई
विषयक भावना है वह सात्विकी है । सांसारिक विषय भोग
राजसी एवं अज्ञान से भरी हुई हिंसात्मक भावना तामसी
संसार के बन्धन से छुड़ाने वाली होने के कारण सात्वि
भावना उत्तम और ग्राह्य है । साथ ही राजसी, तामसी, भ
अज्ञान और दुःखों के द्वारा बाँधने वाली होने के क
निकृष्ट एवं त्याज्य है । स्वभाव के अनुसार भवना, भाव
अनुसार इच्छा, इच्छा के अनुसार कर्म और कर्मों के संस
के अनुसार स्वभाव और स्वभाव के अनुसार पुनः भ
होती है । इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है । उत्तम
एवं उत्तम भावना से बुरे कर्म एवं बुरी भावना का नाश
जाता है । फिर अन्तःकरण को शुद्धि होने पर परमात्मा
प्राप्ति हो जाती है । इसलिये हम लोगों को उत्तम कार्य

भावना की वृद्धि के लिये सदा सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये।

रङ्ग भूमि में पहुँचने पर बल्देव जी सहित भगवान श्री कृष्ण चन्द जी मल्लो को वज्र, साधारण पुरुषों को पुरुष श्रेष्ठ स्त्रियों को मूर्तिमान कामदेव, गोपगण को स्वजन, दुष्ट राजाओं को शासन करने वाले, अपने माता पिता को बालक, कंस को साक्षात् मृत्यु, विद्वानों को विश्वरूप, योगियों को परम तत्व पर ब्रह्म और यादवों को परम देवता रूप से विदित हुए।

एक युवती सुन्दर स्त्री सिंह को भावना में उसका खाद्य पदार्थ हैं। वह उसे खाने की दृष्टि से देखता है। वहाँ रूप रङ्ग और रमणीयता का कोई मूल्य नहीं है। किन्तु कामी पुरुष को वही रमणीय और सुन्दर दीखती है। वह उसके रूप लावण्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। वही स्त्री पुत्र को माता के रूप में दूध पिलाने वाली शरीर का पोषण करने वाली और जीवन का आधार दीखती है। एवं वैराग्य वान विरक्त पुरुष को वही त्याज्य रूप और ज्ञानी को परमात्मा रूप में प्रतीत होती है।

इसी प्रकार यह संसार परमात्मा का स्वरूप होने पर मत भ्रम से अपनी-अपनी भवना के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको यह वैसा ही दीखता है। किसी को सत् दीखता है तो किसी को असत् तथा किसी किसी को परमात्मा का भय दीखता है। परिणाम भी प्रायः भावना के अनुसार ही देखने में आता है।

अपने भाव ते भूलि परयो भ्रम, देह स्वरूप भयो अभिमानी।

आपने भाव ते चञ्चलता अति, आपने भाव ते बुद्धि बरानी ॥
आपने भाव ते आप विसारत, आपने भाव ते आत्म ज्ञानी ।
सुन्दर जैसों ही भाव है आपनों, तैंसोई होय गयो यह प्रानी ॥

भक्त प्रह्लाद ने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि विष भी उनके लिये अमृत हो गया, अग्नि शीतल हो गयी, अस्त्र, शस्त्र निरर्थक हो गये। सर्पों के विष का कुछ भी असर नहीं हुआ। कहाँ तक कहें जड़ स्तम्भ में भी चेतन मय सर्वशक्ति मान भगवान नरसिंह के रूप में प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। प्रह्लाद भगवान के भक्त थे उनका सङ्कल्प सत्य और अन्तःकरण पवित्र था। इसी से ऐसा हुआ यह सब उत्तम भावना का फल है। एवं सम्पूर्ण संसार को प्रभु मय देखना या जहाँ दृष्टि जाय मन जाय वहीं प्रभु का चिन्तन करना सबसे उत्तम भावना है। इस लिये हर समय हम लोगों को प्रभु का ही चिन्तन करने से यह सम्पूर्ण जगत् आनन्द मय प्रभु के रूप में प्रतीत होने लगेगा। यह सारा जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है। क्योंकि वह ब्रह्म में ही लीन होता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करनी चाहिये। यानी शान्त चित्त से उपासना करनी चाहिये। शान्त चित्त से ब्रह्म की भावना करनी चाहिये। वह पुरुष निश्चय सङ्कल्प मय है। इसलिये इस लोक में मनुष्य जैसा सङ्कल्प करता मरकर वैसा ही वह आगे जाकर बन जाता है। फिर वहाँ जाकर पुनः वह वैसा सङ्कल्प करता।

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म तत्व ज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेव के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। इस प्रकार जो ईश्वर को भजता है वह

महात्मा अति दुर्लभ है। अतएव हम लोगों को सर्वत्र भगवत बुद्धि करने के लिए प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इससे बढ़ कर और कुछ कर्तव्य नहीं है।

सुख का पथ

मुझे कुछ भी नहीं चाहिये।

मानसिक भावना—

(१) मैं पूर्ण आरोग्य स्वरूप हूँ।
(२) मैं पूर्ण ज्ञान स्वरूप हूँ।
(३) मैं पूर्ण आनन्द स्वरूप हूँ।
(४) मैं सर्वोन्नति का मूल हूँ।
(५) मैं काल, कर्म और कर्म से मुक्त हूँ।
(६) मैं अजर, अमर, अविनाशी, निर्विकार, व्यापक तथा शान्त स्वरूप हूँ।

१८९—राजा भर्तृहरि ने जब राजपाट और वैभव त्याग कर वैराग्य ग्रहण किया तो किसीने उन्हें न पहचान कर अपशब्द कह दिये। भर्तृहरि ने जवाब दिया चूंकि मुझे अब किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इसलिए मुझे जो गाली दी है उसे भी ग्रहण नहीं कर सकता। अब मेरे पास कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि गाली भी नहीं हैं। जो मैं तुम्हें दे सकूँ।

(सहन-शीलता)

१९०—भय चार प्रकार होते हैं:—

(१) अभाव का भय, (२) वियोग का भय, (३) अपमान का भय और (४) हानि का भय।

भविष्य के कारण अभाव का भय होता है। मोह के कारण वियोग का भय होता है। अभिमान के कारण अपमान का भय होता है। लोभ के कारण हानि का भय होता है। इसके अतिरिक्त वस्तुतः दुःख और किसी प्रकार का नहीं होता है। दुःख वस्तुतः अभाव का नाम नहीं है। अपने में कमी स्वीकार करना ही दुःख है।

१६१—इच्छा वाला कर्म जन्म-मृत्यु रूप फल देने वाला होता है। 'नैराश्यं परमं सुखम्।' वही मुक्त है, वह वेपरवाह और मस्त रहता है। जो आशा, इच्छा से रहित है वह शाहनशाहों का शाहनशाह है।

'अपने प्राप्त हुए भोगों से हम सुखी नहीं हुए, यह अनुभव करने पर भी इसको छोड़ नहीं सकते। वही अज्ञान और माया है।

जो भी क्रिया शरीर या चित्त से होती है उसके फल प्राप्ति की इच्छा करना जन्म-मृत्यु के प्रवाह में, दुःख के सागर में, गिरना है। स्व स्वरूप बोध हुए बिना भोग से कभी सुख-बुद्धि नही मिटती। जगत के प्राणि पदारथ में सुख-बुद्धि के दूर हुए बिना जन्म-मरण कभी नहीं मिटने वाला है। भोग से शरीर का नाश होता है परन्तु चित्त का नाश नहीं होता। चित्त का शरीर इच्छा है। इच्छा के ऊपर ही वह आश्रित है। इच्छा मरने पर वह भी मर जाता है। सत्सङ्ग, विचार, स्वरूप ज्ञान और वैराग्य से चित्त शान्त होता है। तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। चित्त में इच्छा का पैदा होना ही दुःख का पैदा होना है। इच्छा मात्र के अभाव का नाम ही परमानन्द की प्राप्ति है। यदि कोई भी दुःख हो तो समझ लो चित्त के मंदिर में

इच्छा देवी का आगमन हो गया है। उसी के परिवार क्रोध भय, लोभ, मोह आदि हैं। चित्त में भोग की इच्छा रखते हुए मोक्ष की इच्छा नहीं होती। जो समस्त कामनाओं को छोड़कर ममता अहङ्कार रहित होकर विचरता है वही शान्ति को प्राप्त होता है। (इच्छा)

१९२—प्राणियों का जीवन गुण और दोषों से मिला जुला चेतन प्रवाह है। अतः दोषों का परिहार और गुणों का विकास करना अत्यावश्यक है। तदपि सम्पूर्ण दोषो को दूर करना तो बहुत कठिन है किन्तु प्रयत्न करने से बहुत अधिक दोष दूर किये जा सकते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण गुणों से सम्पन्न होना भी बहुत कठिन है। किन्तु प्रयत्न करने पर वास्तविक स्वरूप को अपने ही में पाया जा सकता है। श्री सतगुरु देव साहब अर्थात् अपना जो निज राम रूप है जो तीनों गुणों से परे है। वह हर समय मौजूद रहता है। वह इस जीव के अन्तर्मुख होते ही गुरु मुख होते ही अपने स्वरूप का स्वयं ही अनुभव करा दिया करता है। उपदेशों पर अम्ल करके अर्थात् ज्ञान रूपी नेत्र खुलने पर अपने निज वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। उसका दर्शन होता है। जीव ब्रह्म बन जाता है। (गुणदोष)

१९३—मिल कर रहो। मन मिले रहें। अन्दर की भावना समान हो। हृदय समान हों। मन समान हो। तो तुम्हारा सदा सङ्गठन बना रहेगा!

हे साधक! दीन दुखियों की सहायतार्थ पुण्य कर्मों को करते हुये सौ वर्ष (और उससे भी अधिक समय) तक जीवन पाने की इच्छा से युक्त और इसके लिये प्रयत्नशील रहो। इसी प्रकार तुम (दानवीर परोपकारी) नर बन कर रहोगे तो

तुम पर कोई मलीनता जमने नहीं पायेगी। परन्तु यह निश्चय जानो कि निर्मलता की प्राप्ति इससे अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन करने से कदापि नहीं हो सकेगा।

(भावनात्मक-एकता)

१९४—सात्विक कर्त्ता, सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि, सात्विक सुख चार प्रकार के कर्म हैं। कोई सात्विक कर्म है वह करना पड़ा तो सहज और सरलता से निष्काम भाव से कर दिया परन्तु जो राजस कर्म है वह भिड़ कर, लड़, झगड़ कर, अड़ कर करना पड़ता है। अनेक प्रपञ्च करक कार्य होता है। सात्विक सरलता से हो जाता है।

१९५—रस ही भगवान है। यह जीव रस रूप भगवान को प्राप्त करके ही आनन्द मय होता है। यद्यपि साहित्य शास्त्र में रस के शृङ्गार, वीर, करुणादि नौ भेद माने गये हैं। वे सभी आनन्द रूप हैं। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो रस एक ही है जो परमानन्द स्वरूप है। "आनन्द ब्रह्मण विद्वानं न बिभेति कुतश्चन।" ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला ही सब ओर से निर्भय होता है। (रस)

१९६—रस राज भक्त-रस का का मूल शान्त रस है। शान्त रस के अविर्भाव हुए बिना भक्ति का उद्गम हो ही नहीं सकता। बिना विवेक के वैराग्य कहाँ, वैराग्य के बिना शान्ति कहाँ। विरक्ति रहित अनुरक्ति अपूर्ण है। अनुरक्ति रहित विरक्ति निस्सार है। जब तक असत् विषयों का त्याग नहीं किया जाता तब तक परमात्मा में निष्ठा नहीं हो सकती। वास्तव में असली शान्ति भगवत् निष्ठा में ही होती है। अतएव उद्धव के प्रति भगवान ने कहा :—

'रमोमलिष्ठता बुद्धेः' भगवान में बुद्धि की एक निष्ठता का नाम ही राम है।'

यह शान्त रस ही दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि रसों में क्रमशः परिणत होता हुआ रस राज (मधुर रस) दिव्य श्रृङ्गार रस बन जाता है। यही अप्राकृत श्रृङ्गार रस में पूर्णता प्राप्त करता है।

१९७—साधन करने वाले मनुष्य से यदि कोई कहे कि आपके चित्त में जो प्रसन्नता और शान्ति रहती है धैर्य तथा उत्साह रहता है, थकावट, उकताहट या और कोई हर्ष-शोक, राग द्वेषादि विकार नहीं होते इसका क्या कारण है? तो साधक को यही मानना और यही उत्तर देना चाहिये कि यह भगवान की कृपा है। अतएव अपने ऊपर भगवान की कृपा समझते हुए भगवान को हर समय अपने मन के सामने रख कर भगवान के रुख, मन और सिद्धान्त का विचार करता रहे। यदि कहें कि हमें भगवान के रुख का कैसा पता चले तो इसका उत्तर यह है कि सेवा भाव के प्रताप से साधक को भगवान के रुख का पता लगता है। जैसे पतिव्रता स्त्री को सेवा भाव के कारण पति के रुख का पता लगता रहता है। इसलिये जिससे भगवान प्रसन्न हो जो भगवान के मन और सिद्धान्त के अनुकूल हो वही कार्य करना चाहिये। फिर अप्रसन्नता, अशान्ति, दुःख उकताहट, थकावट आदि तथा अन्य किसी प्रकार के विकार नहीं हो सकते। इस प्रकार साधन करने से परमात्मा की प्राप्ति सहज और शीघ्र हो सकती है। (साधन)

१९८—वस्तु सत्ता में अपने अनिश्चित विश्वास के चश्मे को अपने आंखों से उतार कर फेंक दीजिये। तब सब दिव्य रूप हो

जायेगा। जिन्होंने एक बार भी उस दिव्य स्वरुप ब्रह्म के दर्शन कर लिये हैं. उनके लिए दुःखी या रोगी होना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार दूसरों के लिए सुखी होना दुस्तर है।

१९९—मैं देह नहीं हूं क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मै दृष्टा हूं, मैं इन्द्रीय भी नहीं हूँ। क्योंकि इन्द्रियाँ भी भौतिक पदार्थ हैं। मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूँ। मैं नहीं हूँ क्योंकि मन चंचल है। मैं स्थिर हूँ। एक रुप हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ, क्यों बुद्धि विकारी है, मैं निर्विकार हूँ, एक रस हूँ, मैं तम नही, क्योंकि वह जड़ है, मैं चेतन हूँ, प्रकाश स्वरुप हूँ, मैं देह, इन्द्रिय आदि की समष्टि भी नहीं हूँ, क्योंकि वे सब घटादि के समान नाशवान हैं। मैं अविनाशी, नित्य साक्षी हूँ, मैं देह, इन्द्रिय, प्राण मन बुद्धि और अज्ञान आदि को प्रकाशित कर इन देहादि में आत्मा का अभिमान करने वाले अहङ्कार को प्रकाशित करता हूँ। (विचार साधत)

२००—छः वेगों का दमन करो—

(१) वाणी का वेग (२) मन का वेग (३) क्रोघ का वेग (४) उदर का वेग (५) उपस्थ का वेग (६) और जिह्वा का वेग। इन छः दुर्निवार वेगों का दमन करने वाला पृथ्वी पर शासन कर सकता है।

२०१—छः बातों का त्याग करो—

(१) अधिक आहार (२) व्यर्थ कार्य (३) व्यर्थ अधिक बोलना (४) भजन के नियम का त्याग (५) विषयी जनों का सङ्ग और (६) विषय लालसा। ये छः भक्ति में बाधा डालने वाले हैं।

इनके रहते भजन में प्रेम नहीं होता जो इनका त्याग करता है वह भक्ति प्राप्त करता है।

२०२—छः बातों को ग्रहण करो—

(१) भजन में उत्साह (२) दृढ़ निश्चय (३. धैर्य (४) भजन में प्रवृत्ति (५) बुरे सङ्ग का सर्वथा त्याग (६) और साधु के आचरण। ये छः कर्तव्य हैं। इनके पालन से बहुत शीघ्र भक्ति की कृपा होती है।

२०३—प्रेम के द्वारा ही मनुष्य पर विजय प्राप्त की जा सकती है। जहाँ इस प्रकार मन नहीं जीता जा सके वहाँ समझना होगा कि हमारे प्रेम में कमी है।

२०४—सत्य की प्राप्ति केवल साधना से ही हो सकती है। गुरु में विश्वास रक्खो, धर्म में विश्वास रक्खो और धर्म के मार्ग पर विश्वास रक्खो।

दृढ़ संकल्प बनो, एक उद्देश्य रक्खो, अपने संकल्प को प्रतिदिन दृढ़ करते जाओ। बदला लेने का विचार छोड़ो. जो तुम्हें हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है उनका भी भला करो।
मन का संग छोड दो, यदि नहीं छोड़ सकते तो सत्संग करो। इच्छाओं को भी त्याग दो यदि नहीं त्याग सकते तो मोक्ष की इच्छा करो।
श्रद्धा इष्ट की प्राप्ति करा सकती है। श्रद्धा ही शक्ति है और श्रद्धावान ही शक्तिमान है।

२०५—तपस्या का अर्थ है—ताप सहन करना। त्रिताप की जो ज्वाला है उससे भी अधिक तापित न होने से तपस्या नहीं होती। संपूर्ण इंद्रियों का पूर्ण संयम होना चाहिये। जितने दिन

अपूर्णता का लेशमात्र भी भाव रहेगा उतने दिन पूर्ण का दर्शन पाना कठिन है। जिसके इशारे से संसार चल रहा है उसकी ओर लक्ष्य रखने की चेष्टा करो। विषय भोग की तृष्णा स्वयं छूट जायगी।

२०६—मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य अतल (Unconscious) क्षेत्र में मानव के पुराने संस्कार दवे पड़े हैं। उत्तेजना की ठेस पाते ही, ये अभद्र प्रवृतियाँ अनायास ही जाग्रत हो उठती हैं। और मनुष्य का विवेक-बुद्धि पर हावी होकर अपना गंदा मायाजाल वनाना प्रारम्भ कर देती है। यदि हम मन पर अपना नियन्त्रण त्याग दें, तो यह स्पष्ट है कि यह पापी हमें कहीं-से-कहीं खींचकर ले जा सकता है। वहीं हम अपवित्रता या वासना, ईर्ष्या, स्वार्थ की वातें सोचने लगे तो सम्भव है यह हमें शैतान ही वना डाले और हम मान मर्यादा कर्तव्य ज्ञानशून्य हो जायँ। हमें इस वात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हमारा शैतान न जाग्रत हो जाय। हमारी दुष्प्रवृत्तियाँ न भड़क उठें। हम कोरी भावना में न वह जायँ।

मैं सब के प्रति प्रेम की विचार लहरें छोड़ता हूँ मेरा किसी के प्रति के प्रति शत्रु भाव नहीं है। सब हितैषी हैं। सब मुझे आनन्द और उत्साह की दैवी सम्पदाएँ देते हैं। मेरे अन्दर शान्ति है। मेरे वाहर शान्ति का प्रकाश है। मैं स्वयं शान्त रहता हूँ। तथा दूसरों को शान्त रखता हूँ। मेरे चारों ओर का वातावरण शान्त है।' इस प्रकार के विचार मन में दृढ़ता से जमाने से मनुष्य धीरे-धीरे शान्त प्रकृति प्राप्त कर लेता है।

जो भी वातें आपको उलझन या उत्तेजना में फँसाती

हैं, उन्हें ठंडे दिमाग से करने की आदत डालिये। ठंडा जल पीकर शान्त हो जाइये या किसी रुचिकर कार्य में निरत् हो जाइये; उत्तेजना का तूफान शान्त हो जायगा।

(मनकी शान्ति)

२०७—मुझे ऐसा मित्र चहिये।

जो रूठे, पर रूसे कभी नहीं।
जो झगड़े, पर लड़े कभी नहीं।।
जो भागे, पर त्यागे कभी नहीं।
जिससे सब कुछ पूछा जा सके।
जिससे सब कुछ कहा जा सके।।
जिससे सब कुछ लिया जा सके।।

२०८—जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहते हैं उनके सब काम बिगड़ जाते है।

२०९—आत्मा को विशुद्ध और राग-द्वेष से बचाये रखना ही ज्ञान है।

२१०—सृष्टि ही में परमेश्वर है और परमेश्वर ही में सृष्टि है। परमेश्वर ही सृष्टि को धारण किये हुए हैं। आकार और निराकार एक ही रूप है भेद सिर्फ दृष्टि का है।

२११—वैराग्य का अर्थ सिर्फ संसार से विराग नहीं ईश्वर पर अनुराग और संसार से विराग है।

२१२—मृदु शब्द और अकाट्य युक्ति से बात करनी चाहिये। यदि कठोर शब्द होंगे तो इससे वैमनस्य हो जाता है। एक ही कठोर शब्द से वर्षों की मित्रता क्षणमात्र में टूट जाती है। शब्द में बड़ी शक्ति होती है।

२१३—मैं इसे नम्रता से स्वीकार करता हूँ कि चाहे मैं उतना सफल न होऊँ लेकिन मैं अपने व्यक्तित्व के रेशे-रेशे को प्रेम साधना में डुबो देना चाहता हूँ। मैं अपने प्रभू से साक्षात्कार करने के लिए व्यग्र हूँ। मेरा प्रभु सत्य स्वरूप है। लेकिन अपनी साधना के आरम्भ में ही मैंने पहचान लिया था कि अगर मुझे जीवन का चरम सत्य पाना है तो मुझे प्रेम की हुकूमत के आगे सर झुका देना होगा। हमें अपने प्रेम पर विश्वास करना चाहिये फिर देश प्रेम, अन्त से हमैं अपने को विश्व प्रेम में लीन कर देना चाहिये।

मेरे पास तो सिवा प्रेम के किसी पर भी किसी तरह का अधिकार नहीं है। प्रेम देता है, कभी कुछ माँगता नहीं। प्रेम सदा दुख सहता है। जहाँ प्रेम है वहीं भगवान हैं।

२१४—यह तो वास्तव में विश्वास है जो हमें तूफानों के पार ले जाता है, वह विश्वास है जिसके सहारे हम समुद्र को उखाड़ सकते हैं। यह विश्वाश अपने हृदय में रहने वाले भगवान की चेतना के अलावा और कुछ भी नहीं है। जिसमें यह विश्वास है उसे फिर कुछ नहीं चाहिये। बिना विश्वास के यह सारी सृष्टि एक क्षण में नष्ट हो जायगी।

विश्वास कोई नाजुक फल नहीं है। जो जरा से तूफ़ानी मौसम में कुम्हला जाये।

विश्वास तो अपरिवर्तनशील है। हिमालय की तरह है। कोई तूफान हिमालय को हिला नहीं सकता। मैं चाहता हूँ कि आप में से प्रत्येक भगवान में वह अदम्य विश्वास जगा ले।

२१५—साधन में तीन बातें आवश्यक हैं।

१—निःसन्देहता—समझ संदेह रहित हो।

२—रुचि—हृदय प्यार युक्त हो।

३—विश्वास मन पर विश्वास हो।

यह कैसे हो?

१—समझ सन्देह रहित होती है सत्संग से।

२—हृदय प्यार युक्त होता है—अपनेपन से।

३—मन विश्वास युक्त होता है—भक्तों के सङ्ग और भगवान की कृपा से।

साधन का ऊपरी रूप उसकी 'भाषा' है और उसका अर्थ ये तीन बातें हैं। जैसे चेक का कागज ऊपरी रूप है और रुपया उसका अर्थ।

भगवान की कृपा कैसे हो? लाभ उठाने से।
जैसे आँखें बन्द करने वाले के लिये सूर्य का प्रकाश होते हुये भी निरर्थक हो जाता है उसी प्रकार न मानने वाले के लिए भगवान की कृपा।

२१६—मौन का तात्पर्य क्या है?

संकल्प।
सही बोलो चुप हो जाओ।
जो करो सही करो और चुप हो जाओ।
जब मन में ख्याल आता हो तो मौन कहाँ हुआ?
तो फिर मौन कैसे हुये?
ख्याल को निकाल दो।

एक बार किसी ने सन्त से पूछा, बाबा। क्या किया करते हो?

बाबा ने कहा—जो संकल्प उठ चुके हैं उन्हें तो पूरा करता हूँ और नये संकल्प नहीं करता।

संकल्प न उठे इसका क्या उपाय है ?

जो है उन्हें दबाओ मत, उठने दो। निकलने दो। तुम देखते रहो कि उठ रहे हैं।

मन में संकल्प अधिक इसलिए उठते हैं कि हम अपने जीवन में घण्टे दो घण्टे ही साधना करते हैं। शेष जीवन को साधन नहीं मानते। यदि सारे जीवन को साधन ही मान लिया जाय तो संकल्पों का अन्त हो जाय।

२१७—अपना मन पवित्र रक्खो। समस्त धर्मों का सार इसी एक उपदेश में समाया हुआ है। बाकी सब बातें कुछ नहीं केवल शब्दाडम्बर मात्र हैं।

२१८—हर्ष के सङ्ग शोक और भय इस प्रकार लगे हुये हैं जिस प्रकार प्रकाश के सङ्ग छाया। सच्चा सुखी वही है जिसकी दृष्टि में दोनों समान हैं।

२१९—मैं भगवान से अष्ट सिद्धि या मोक्ष तक की कामना नहीं करता मेरी यही एक प्रार्थना है कि समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर मैं ही उनके समस्त दुःखों को सहूँ।

२२०—तुमसे कोई बड़ा नहीं है न कोई छोटा है। भाइयों की तरह मिलकर सौभाग्य के लिये आगे बढ़ो। तुम्हारा रक्षक परमेश्वर है। अनेक प्रकार की धन धान्य देने वाली पृथ्वी तुम्हारी माता है।

२२१—जहाँ सदा अपने को ही सुख मिलता है वह स्वर्ग भी नरक

समान है। अत: साधु पुरुष सदा दूसरों के सुख से ही सुखी होते हैं।

२२२—प्राणि मात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई और जिससे सब जगत व्याप्त है उसका अपने कर्मों के द्वारा पूजन करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

घट-घट में वह साईं रमता। कटु वचन मत बोल रे।

२२३—किसी काम को बार-बार करने का नाम अभ्यास है। उसी को पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके बिना किसी प्रकार की भी उन्नति नहीं होती।

२२४—उत्तम कर्मों का करना ही सुखकारी है। उत्तम कर्मों का न करना ही पश्चाताप को बढ़ाने वाला है।

२२५—जिसकी कीर्ति जब तक भूमि में टिकी है तब तक वह स्वर्ग में रहता है। अपकीर्ति ही नरक है। दूसरा नरक परलोक में नहीं है।

२२६—तुम वही करो जो दूसरों से चाहते हो।

२२७—सच्चे प्रेम को उत्पन्न करो। सबको प्रेम करो। प्रेम से क्रोध को सँभालो।

२२८—जहाँ तीव्र इच्छा है वहाँ रास्ता भी है। जब तक पुण्य कर्मों के उदय होने से भगवत कृपा नहीं होती तब तक आत्मा-अनात्मा का विवेक कराने वाला महापुरुष का सत्सङ्ग प्राप्त नहीं होगा, जब हम उनकी आज्ञा में चलेंगे तभी हमें वह कृपा प्राप्त होगी। सत्सङ्ग से 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह विवेक उत्पन्न होता है।

विवेक के उत्पन्न होने से संसार के अनित्यव जड़ दुःख रूप मानने में वैराग होगा। उस समय शांति को प्राप्त करने के लिए इस आत्म-ज्ञान के सिवा अन्य कोई रास्ता है ही नहीं। परमात्मा को सब देखते हैं और उससे मिलते हैं। जगत में जो कुछ सुख शान्ति मिलते हैं वे परमात्मा के दर्शन मिलने से ही मिलते हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी जीव उन्हें पहचानता नहीं है। यह कैसा आश्चर्य है कि हम जिसको पाना चाहते हैं वह हमारे साथ ही है। उसी से हम उसके पाने का रास्ता पूछते हैं। वही विनोद वश बताता भी है। इधर-उधर भटकाता है। भटकने पर भी प्रेम पूर्ण हृदय से हमारे साथ ही रहता है।

२२९—संसार में उसी मनुष्य का मूल्य है, उसे ही मान, यश मिलता है जिसमें हिम्मत होती है। जिस व्यक्ति में हिम्मत का अभाव है उसका कोई मूल्य नहीं है। वह एक दिन कीट पतङ्ग की भाँति कलेवा बन जाता है। वह न तो सांसारिक सुखों का उपभोग कर पाता है न अपना परलोक ही बना पाता हैं। वस्तुतः मनुष्य के लिए कोई भी बात असम्भव नहीं है।

(हिम्मत)

२३०—आज यदि कोई कहता है कि मैं दुःखी हूँ मुझे अमुक अभाव है तो उसने इस देव दुर्लभ मनुष्य शरीर की महिमा नहीं समझी। मनुष्य यदि हिम्मत से काम ले तो इसी जन्म में नहीं वरन चौरासी लाख जन्मों के दुःखों का इसी जीवन में नाश कर सकता है। दुःखों के आने पर जो हिम्मत नहीं छोड़ता उसे ही अनुकूलता और सुख मिलते हैं। सफलता उसके पीछे-पीछे दौड़ती है। हिम्मत टूट गई तो फिर सफलता कैसे मिलेगी।

२३१—जिनके सामने प्रतिकूलता तथा दुःख नहीं आते उसका मूल्य भी नहीं बढ़ता और न उसकी हिम्मत की परीक्षा ही होती है। दुःखों के आने पर उन्हें हँसते-हँसते सहन करने के लिये हमें अपने हृदय को पत्थर की शिला जैसा बना लेना चाहिये। जब दूसरों की सेवा का संयोग मिले तो अपने हृदयों को नवनीत जैसा कोमल बना लेना चाहिये।

२३२—आत्म-कृपा का अर्थ स्वार्थ परायणता नहीं है। इसका अर्थ है आत्मोन्नति। आत्मोन्नति में आत्म-कृपा का मुख्य हाथ है। चित्त की विशालता इस दर्जे तक उत्पन्न करता है कि हमारी आत्मा देश भर की आत्मा का नक़शा हो जाय जगत के दिखलाने वाले शीशे का काम देने लग पड़े। देश भर की आवश्यकता को हम अपनी आवश्यकता मान करने लग पड़े। चाहे लोगों की दृष्टि में हम सारे भारतवर्ष या जगत भर के भले का काम कर रहे हों पर हमें वह काम केवल निज का बड़ा करते जाना कि चित्त सारे देश और जाति का चित्त बन जाय। यही आत्मोन्नति है। आत्मोन्नति का लक्ष्य सबके साथ ऐसी सहानुभूति करना है कि दूसरों का प्रतिबिम्ब स्वयं बन जाय। (आत्म-कृपा)

२३३—मेरे प्यारे। एक मात्र अपराध है ईश्वर को भूल जाना। अपनी सच्ची आत्मा प्राणों के प्राण आत्मा का विस्मरण करना।

२३४—अपनी ही आत्मा में ईश्वर के दर्शन का एक ही उपाय है। समस्त इच्छाओं का परित्याग। अपनी सारी इच्छाओं को तिलांजलि दो और ओम की ध्वनि में निवास करो।

२३२--जीव ही ब्रह्म है । जीव परमेश्वर का रूप है । विना फल की इच्छा के कर्म करना चाहिये । 'निदिध्यासन' ब्रह्म रूप वृत्ति का अखण्ड प्रवाह चलाना ही—'निदिध्यासन' है । इसमें 'प्रयत्न' ही विचार है । मानव कर्म से ज्ञान में ही आ जाता है । जो मनुष्य ईश्वर से सच्ची भक्ति करता है उसकी माया दूर हो जाती है । और ज्ञान की आँख खुल जाती है । वह ईश्वर को अपने ही में पाता है । अर्थात स्वयं ही उपदेशों पर अमल करने से अपने गुणों का भी अधिकाधिक विकास किया जा सकता है । संस्कारों का कार्य और उद्देश्य भी यही है । जहाँ दोषों की अधिकता होगी वहाँ गुणों का विकास बहुत कम और कठिनाई से होगा । गुणों के समुचित विकास के वाद बहुत से दोष तो अपने आप मिट जायेंगे । जो थोड़े से बच जायेंगे उनका प्रभाव भी मन्द पड़ जायेगा अर्थात वे दबे हुये से रहेंगे । हम विचारों से ही बनते और विगड़ते हैं इसीलिये विचारों की शुद्धि या चित्त की शुद्धि की बहुत आवश्यकता है । सारे धार्मिक अनुष्ठान चित्त शुद्धि के लिये हीं किये जाते हैं । संस्कारों का सबसे अधिक महत्व चित्त शुद्धि में है । मन की मलिनता ही सबसे अधिक दुःखदाई है । शरीर की मलिनता तो पानी एवं साबुन से दूर भी की जा सकती है परन्तु मन तो न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है । वह प्रतिपल अशुभ चिन्तन के कारण मलिन होता रहता है । इन्द्रियों का प्रेरक भी वही है । अतः उसकी शुद्धि का निरन्तर ध्यान और प्रयत्न करना चाहिये । योग सूत्र में 'चित्त वृत्ति निरोध' को योग कहा है । पर निरोध करना सहज नही है । अतः चित्त को पहले अशुभ से हटाकर शुभ प्रवृत्तियों में लगाना उचित है । क्योंकि चित्त को कुछ न कुछ अवलम्ब तो चाहिये ही । यदि उच्च आदर्श एवं ध्येय में लगे रहे

बुरी आदतों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जायेगा । यदि कभी गया भी तो बुरा करने के लिये समय ही न मिलेगा । गीता में कहा है—जहाँ तक जीवन है कुछ न कुछ प्रवृत्ति करनी ही पड़ेगी । अतः आसक्ति का त्याग कर दें विष निकल जाने से फिर हानि नहीं पहुंचेगी ।

२३५—साधन अच्छा हुए विना साध्य अच्छा नहीं हो सकता । बीज के अनुसार ही फल होगा ।

स्वार्थी जीव के साथ रहने में सुख नहीं ।
अपने को बड़ा वनाने के लिये दूसरों को केवल नेकी और वढ़ाई को ही दिल में स्थान देना उचित है ।
जैसा कोई विचार करेगा वैसा ही वन जायेगा ।

२३६—जो अपनी सहायता आप करने को तैयार है परमेश्वर उसकी सहायता करने को हाजिर खड़ा है । यही ईश्वरीय नियम या कानून है ।

२३७—अन्तःकरण में तीन भाग हैं । अनात्म भाग जल रूप है । शुद्ध ज्ञान सूर्य रूप है । जल में जो सूर्य का प्रतिविम्ब है वह आभास है ।

२३८—जब आप ईर्ष्या, द्वेष, छिद्रान्वेषण और दोषारोपण, घृणा और निन्दा के विचार किसी के प्रति करते हैं तो वैसे ही विचार अपनी ओर बुलाते हैं । जब कभी आप अपने भाई की आँख में तिनका खोजते हैं तभी आप अपनी आँख में ताड़ खड़ा कर लेते हैं ।

२३९—जीवन का चरम लक्ष्य स्वरूप सुख और शान्ति है । उसका अर्जन केवल विवेक द्वारा ही हो सकता है । विना विवेक अन्य सभी साधन पंगु हैं । जीवन यदि एक भयंकर आंधी

है तो विवेक उस आँधी से बचने के लिये एक दुर्भेद्य दुर्ग है। यदि जीवन एक वेगवती सरिता है तो विवेक एक सुदृढ़ नाव है जो पार करने में सक्षम है। (विवेक)

२४०—प्यारे ? सांसारिक सम्पत्ति को एकत्र करने में दिन-रात परिश्रम करते हो और कुछ भी हाथ नहीं आता। उसी परिश्रम से आत्मिक उन्नति के लिये कुछ भी व्यय करो तो अमृत जीवन प्राप्त हो जाय।

(विद्यार्थी अवस्था में युधिष्ठिर ने मन को समझाया) क्रोध क्यों उत्पन्न होता है ? प्राय: जब कोई काम बिगड़ता है या कोई वस्तु खराब हो जाती है तो क्रोध आता है। अरे मन काम तो एक बार बिगड़ चुका तू उस पर चित्त को क्यों बिगाड़ता है ? वस्तु तो खराब हो गई बला से रुपये, दो रुपये, सौ रुपये की होगी। तिस पर चित्त जैसा अनमोल वस्तु को क्यों खराब कर बैठता है ? आनन्द मेरा जन्मजात स्वत्व है। यदि कोई सांसारिक वस्तु खो जाय तो उस पर मैं अपने जन्मजात स्वत्व को व्यर्थ में क्यों नष्ट कर दूँ ?

२४१— साधु वेष धारी का सङ्ग ही सत्संग नहीं। चरित्रवान व्यक्ति को ही साधु समझना चाहिये। जिसके सेवन से परिणाम में दु:ख प्राप्त होता है उसका त्याग करें। जिसके सेवन से परिणाम में सुख मिले वह साधु है। ऐसा पूर्ण साधु न मिले तो जिसमें जिस अंश तक साधुता हो उसे उस अंश तक सेवन करना चाहिये। और लाभ उठाना चाहिए। कुछ लोगो में दान वृत्ति प्रबल होती है। कुछ में दया। कहीं विनय, कहीं भक्ति, किसी में निरभिमानिता, किसी में इन्द्रिय जय्य, कहीं अक्रोध, कहीं सत्य। इस प्रकार विभिन्न गुणों का सर्वनाश

विभिन्न व्यक्तियों में होता है। जो गुण जहाँ मिलें वहीं उससे ग्रहण करके लाभ उठाये। इसी का नाम सत्संग है।

अमर-वाणी

२४२—माँगो कुछ नहीं, आशा भी कुछ मत रक्खो तो स्वंयमेव सब वस्तुएँ तुम्हारे पास जुट जायेंगी। तुम दिव्यानन्द से भर जाओगे। यदि इच्छा का काँटा हृदय से निकल जाय तो तुम्हें आशा न सताए। तुम्हें त्याग का अभ्यास हो जाय तो तुम्हें देने का आनन्द मिल जाय। आनन्द तो हमें उसी बात में आने लगता है जिसमें उसे हम मान लेते हैं। तो बस लेने और पाने में उसकी कल्पना मत करो। देने में और छोड़ने में ही उसका अनुभव करना सीख लो। त्याग' से सदैव आनन्द मिलता है। त्याग भी उन वस्तुओं से ही प्रारम्भ हो जो हमें सबसे अधिक प्यारी और हमारे सबसे अधिक निकटवर्ती हो सबसे पहले उस मिथ्या 'अहम्' का नम्बर आता है। उसे हमें त्यागना पड़ेगा। मैं यह काम करता हूँ। वह काम करता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" आदि जिसके द्वारा हमें मिथ्या घमंड होता है सदा के लिये छोड़ देना चाहिये।

२४३—ए प्यारे ! यदि कोई कर्तव्य है, तुझको कुछ करना है इस 'चाहिये' से पीछा छुड़ा। इस चाह के धब्बे को मिटा। तुझे कुछ नहीं चाहिये। तेरी कसम तू तो नित्य तृप्त है। भ्रान्ति में पड़ कर दीन और दरिद्र क्यों बन रहा है ? यदि कोई तेरा कर्तव्य है तो यह है अपने दबे हुए कोष को निकला और अपने शाहंशाही को संभाल। अन्य शेष कर्तव्य तेरे माने हुए कर्तव्य हैं।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआं बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये वो ही शाहनशाह ।।

२४४---'मैं' को 'है' में विलीन कर दो। 'है' माने सदा-सर्वदा सर्वत्र रहने वाला जो स्वभाव से ही मिल जाये, उसे आप अपना मान लें। उसे अपने आपको अर्पण कर दें। 'है' की अग्नि में 'मैं' की आहुति देते जाइये। अग्नि में दी गई आहुति अग्नि हो जाती है। 'है' में दी हुई 'मैं' की आहुति 'है' हो जायेगी। योग, बोध और प्रेम 'है' के साथ ही सम्बन्ध जोड़ता है। विवेक बुद्धि ही निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता को जन्म देती है। निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता--हमारी खोज है। और यह 'उस' का दान है।

वह कौन हमारा अपना है जिसे हम नहीं जानते। जो हमें जानता है हम उसी के अर्पित हैं।' अहम' का नाश होते ही 'है' की अभिव्यक्ति हो जाती है। मानव के नाते सत के संग का आपको स्वतः अधिकार है। ब्रह्म से जैसा जिस तरह सम्बन्ध है वह सब स्वीकार है। ब्रह्म में प्रियता, ब्रह्म में अभिन्नता ब्रह्म में योग तब होता है जब मानव संत् का सग करे। सत् का संग करने का अर्थ है अविनासी का संग करना।

२४५- -मृत्यु में, दुःखों में सत्य का पक्ष लेकर दुष्टों से अभय रहो। क्या मृत्यु से डरते हो ? ठीक है पंच क्लेशों में अभिनिवेश मुख फैलाये खड़ा है। केवल भय से काम नहीं चलेगा, सामना करना पड़ेगा। विवेचन करो—मृत्यु क्या है ? किसकी होती है ? मृत्यु—एक दीर्घ विश्राम है। चिर निद्रा है। निद्रा विना शक्ति प्राप्त किये नहीं होती। अतः सोना आवश्यक है। इसी प्रकार मृत्यु भी आवश्यक है। वेदान्त दर्शन के अनुसार :

क्या है ? एक परिवर्तन—एक बंगले से दूसरे बंगले में जाना या वस्त्र परिवर्तन।

नियम है—सामान्य प्रेम को छोड़कर चिन्तन या तो है दृढ़ प्रेम में या दृढ़ विरोध में।

मनुष्य यह भूल जाता है कि मेरे जैसे अन्य समस्त सुख साधन चाहते हैं, जीना चाहते हैं। धन ही सब कुछ नहीं है। यही तो जीवन रूपी गाड़ी को चलाने का साधन मात्र है पर साध्य नहीं है। [अभय]

२४६—साधन होने के नाते हम सभी साधक हैं। साधक होने के नाते साधन निष्ठ हैं। साधन का मुख्य उद्देश्य है—अपने लिये, और जगतपति के लिये, उपयोगी होना चाहिये। किसी के लिये भी अनुपयोगी न होना। जो अपने लिये अनुपयोगी है वह सभी के लिये अनुपयोगी होता है। कर्त्ता से कर्म निकलता है। कर्म से कर्त्ता नहीं बनता। दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना लाभ नहीं हो सकता। हमें देखना पड़ेगा कि हमारे कर्म से किसी का अहित तो नहीं हो रहा है।

दोष रहित होने के लिये किसी का अहित नहीं करना पड़ता स्वयं ही वह होने लगता है। दोष रहित होना मानव मात्र के अधिकार में है।

कार्य को फल से मुक्त कर लें तो वह उतना ही निर्दोष है, जितना कभी भी कोई हो सकता है। 'अहं' और 'मम' के नाश होने से नित्य जीवन के साथ अभिन्नता होती है। यही विधान है।

२४७—सत्संग का फल है :—जीवन मुक्ति मवि, अमर शान्ति और दुःख निवृत्ति। यह सत्संग आप अपने द्वारा कर सकते हैं।

इसमें आप सर्वथा स्वाधीन है। हित मिली योग्यता वस्तु और सामर्थ्य से होती है। मिली हुई वस्तु अन्य के लिये भी होती है। किये हुए हित का अभिमान करना बहुत बड़ी भूल है। किसी की दी हुई वस्तु का, योग्यता का और सामर्थ्य का दुरुपयोग करना बहुत बड़ी भूल है। किसी के किये हुए अहित को कभी नहीं दुहराऊँगा; और जाने हुये अहित को कभी नहीं करुंगा इस संकल्प को स्वीकार करते ही आप अपनी दृष्टि में और मालिक की दृष्टि में दोष रहित हैं। पतित से पतित प्राणी भी जब चाहे तब पावन हो सकता है। यही प्रभू की इच्छा है। लाखों अपराध कर चुकने पर भी जब आप उसे छोड़ देते हैं तो निर्दोष हो जाते हैं। स्वभाव से कोई दोषी नहीं होता। सुने हुए में श्रद्धा और जाने हुए का आदर करने से ही व्यक्ति निर्दोष हो सकता है। बुराई का नाश बुराई न करने से ही होता है। भूत काल की बुराई के फल से बचने के लिए भलाई के लोभ और अभिमान से बचना होगा। बुराई न करने पर जो भलाई होने लगती है वह अपने आप ही होने लगती है।

कर्म का आरम्भ होता है तो अन्त भी होता है। संयोग होता है तो वियोग भी होता है। कर्म है तो विश्राम भी है। वियोग और विश्राम में भी जीवन है। आज वियोग और विश्राम के जीवन से हम विश्वास नहीं करते। ईमानदारी का जीवन ही (बेसामान का) स्वतन्त्र जीवन है। वही सच्चा जीवन है। निर्भर होकर वियोग में योग का अनुभव कर सकते हैं।

२४८—सच्ची सहानुभूति वही है जो दूसरों का दुख देखकर पिघल जाये और उसकी हर तरह से सहायता करने को तैयार हो उठे।

यदि कोई व्यक्ति अपने घर में जोर जुल्म करता है—पत्नी को डाँट-फटकार बताता रहता है, बच्चों को मारता रहता है, नौकरों को गालियाँ देता है अथवा अपने पड़ोसी को कटु आलोचना द्वारा चोट पहुंचाता है तो फिर बाहर के लोगों के प्रति झूठी भावुकता दिखाने को सहानुभूति कैसे माना जायेगा। अपने विचारों की दुनिया के अन्याय और पाषाण-हृदयता के विरुद्ध उसके घृणा युक्त एवं उथले भाव-प्रदर्शन की क्या सार्थकता होगी ? ऐसे लोगों के प्रति इमर्सन ने कहा "जाओ अपने बच्चों से प्रेम करो। अपने सेवकों को प्यार दो। अपने स्वभाव को मधुर और विनम्र बनाओ। मन की गरिमा को प्राप्त करो। दूर के लोगों के प्रति तुम्हारा प्रेम पर व्याघात है। मनुष्य के वर्त्तमान कार्य ही उसकी सच्चाई की कसौटी बनते हैं न कि उसकी निरर्थक भावुकता। उसके कर्म में यदि स्वार्थपरता और कटुता है तथा घर के लोग उसके आगमन से भयभीत होते हैं उसके प्रस्थान से प्रसन्न होते हैं तो फिर दीन दुखियों और पददलितों के प्रति थोथी सहानुभूति प्रकट करने में क्या सार्थकता है ?-

सहानुभूति से हमारे व्यक्तित्व में पूर्णता का भाव आता है। इसी गुण के आधार पर सहानुभूति दर्शाने वाला अपनी निजता में अनेक आत्माओं का प्रतीक बन जाता है। दूसरे की दृष्टि से वह देखता है, दूसरे के कानों से वह सुनता है। दूसरे के मन से वह सोचता है। दूसरे के हृदय द्वारा ही वह अनुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार चलने से वह अपने से भिन्न लोगों के मनोभावों को समझ लेता है। दूसरों के जीवन, का अर्थ उसके आगे स्पष्ट हो जाता है। दूसरों के साथ वह एककारित का अनुभव करता है। 'बालजक' का कहना है "गरीबों के प्रति मैं खिंचता हूँ। उनकी भख मेरी भूख है।

मैं उनके साथ रहता हूँ। उनकी वनचनाओं की पीड़ा को मैं सहता हूँ। एक भिखारी के फटे चिथड़ों का स्पर्श मैं अपने शरीर पर कर सकता हूँ।

'इतने समय के लिए मैं एक गरीब ठुकराया हुआ प्राणी बन जाता हूँ।' दूसरे महान व्यक्ति ने कहा है, "दीन दुखियों के लिए किया गया कर्म परम सत्ता की उपासना में किया गया कर्म होता है।"

इस प्रकार सहानुभूति हमें दूसरों के हृदयों तक पहुँचाती है। और हम उनसे एकात्म रूप का अनुभव करते हैं। यदि उन्हें पीड़ा होती है तो वह हमें अनुभव होती है। उन्हें हर्ष होता है तो उसका उन्मेष हमारे अन्तर में होता है। जब उन्हें धिक्कार और यातनाएं दी जाती हैं तो हम भी उनके साथ अपमान और यातनाएं सहते हैं। जिसके अन्तर में यह सहानुभूति का एकात्मकारी तत्व है वह कभी दूसरों की भर्त्सना नहीं कर सकता। अपने सहवर्ती जनों के प्रति विचार शून्य और हृदय शून्य घोषणाएं नहीं कर सकता। इसके विपरीत सहानुभूति के अभाव से अभिमान पैदा होता है। सच्ची सहानुभूति से प्रेम पैदा होता है। अभिमान की जड़ में अज्ञान है अभिमान उन्हीं लोगों के मन में पनपता है जो यह सोचते हैं कि उनका अस्तित्व उनसे अलग है। एवं केवल उन्हीं का रास्ता सही है। दूसरों का नहीं। सहानुभूति मनुष्य को भिन्न और आत्मकेन्द्रित जीवन से ऊँचा उठाती है। लोगों के हृदय में उसके लिए स्थान बनाती है। तभी वह दूसरों के विचारों और अनुभूतियों में सम्मिलित होता है।

सहानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति हृदय के बंद कपाट खोलती है। पत्थर में से भी जल के झरने बहाने लगती है।

सहानुभूति एक ऐसा पत्थर है जो पारस के समान जिन्दगी के लोहे को सुवर्णता में बदल देता है, मानव के सम्बन्धों में संगीत का माधुर्य और इन्द्र धनुष का सौन्दर्य भर देता है ।
सच्ची सहानुभूति या प्रशंसा के शब्द निकालने में हमारी एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती । परन्तु उनका उच्चारण करते समय लगता है जैसे हमारी कोई जायदाद ही जा रही हो या प्राण ही निकल रहे हों । कितनी सस्ती वस्तु परन्तु कितनी दुर्लभ ।

प्रसिद्ध अमरीकी विचारक इमर्सन का कथन है कि—'आप के मीठे सहानुभूति भरे शब्दों से आपके मित्र का सम्पूर्ण व्यक्तित्व खिल उठेगा । उसके जीवन में एक ऐसा मधुर परि–वर्तन होने लगेगा जो किसी डाक्टर के वश की बात नहीं।
सहानुभूति जादू का सभी कार्य करती है । देखते-देखते पराया अपना लगने लगता है । कुरूप रूपवान दिखाई देने लगता है । शत्रु भी मित्र जैसा दिखाई देने लगता है । बुद्धि हीन बुद्धिमान प्रतीत होने लगता है । निराशा आशा का रूप ले लेती है, पाप पूण्य की संज्ञा से अभिभूत हो जाता है । कठोर कोमल बन जाता है । सहानुभूति पूर्ण व्यक्ति किसी को भी मूलतः मूर्ख, शठ, धुर्त, चरित्रहीन, लम्पट और लोलुप नहीं समझता । वह भलीभाँति जानता है कि दोष तो उस परि-स्थिति का है जिसने किसी को चोरी या बुरा काम करने को विवश किया ।

सहानुभूति चरित्र-निर्माण के तत्वों में से एक श्रेष्ठतम तत्व है अनेकता में एकता भेद में अभेद का अभास जिसने पा लिया उसकी सहानुभूति तो अपरिमित और दृढ़ हो जाती है । हम जब तक दूसरों को अपना नहीं समझते तभी तक सहा-

नुभूति हमारे हृदय में अपनी जगह नहीं बनाती, और हमारी धमनियों में प्रवाहित नहीं होती। जब हम यह जान लेते हैं कि सागर की लहरों की तरह हम सभी एक ही परम तत्व में से निकलते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। तब हमारे हृदय की सोई हुई सहानुभूति स्वयं द्रवित और आन्दोलित होने लगती है।

२४९––जिस प्रकार आकाशादि महाभूतों के गुण उत्तरोत्तर भूतों में आ जाते हैं। जैसे आकाश में एक गुण 'शब्द' है। वह आकाश से ही उत्पन्न हुआ वायु में आ जाता है। अतः वायु 'शब्द' स्पर्श गुण युक्त हो जाता है। वायु से उत्पन्न अग्नि में रूप स्वगुण है। शब्द, स्पर्श अपने कारण भूत पूर्ववर्ती महाभूत आकाश और वायु के गुण भी रहते हैं। इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न जल में रस गुण स्वकीय है। शब्द स्पर्श रूप पूर्ववर्ती महाभूतों के गुण मिलकर पाँच गुण एकत्र हो जाते हैं।

२५०––वेदान्त शान्त चित्त को द्रव्य मानता है। जो महाभूतों के सात्विक अंशों से बना है। वह लाख की तरह पिघलने वाला एवं कठोर होने वाला द्रव्य है।

भगवद्विषयक काम क्रोधादि भावों से द्रुत हुए चित्त में प्रविष्ट भगवदाकार रूप परमानन्द मय रस राज भगवान स्वयं जब द्रवत हुए चित्त में प्रवेश कर जाते हैं तब फिर वे निकलने पर भी नहीं निकलते।

भक्ति रस में स्वयं भगवान परमानन्द रस रूप मनोगत हो जाते हैं। फिर वे कभी भी भक्त के मन को त्याग कर नहीं जा सकते। ऐसे भक्त को ही 'महा भागवत' या भागवत प्रधान कहा गया है।

शृङ्गार रस का परमोत्कर्ष इसी भाव में होता है। जैसे पर-कीया नारी अपने घर के काम में नित भर लगी रहती है फिर भी अपने अन्तः करण में उसी अपने बल्लभ के संग का आस्वादान करती रहती है। वैसे ही संसार के कार्यों में रत रहते प्रभु का अपने अन्तर में आलिंगन करते रहना ही पर-कीया भाव है।

२५१—शुद्ध रति, कामज रति, सम्बन्धज रति, भयज रति। इनमें शुद्ध रति निरूपाधिक रति है। इसमें काम सम्बन्ध और भय की उपाधि नहीं रहती। केवल भगवान के अनन्त परमानन्द दायक गुणों से आकर्षित होकर जो भगवद् विषयक निष्काम प्रीति स्वाभाविकता या अनिश बनी रहती है वह शुद्ध रति है। जैसा कि सनकादि की रति।

रति के चार भेद

कामज रति काम सम्बन्ध और भय से उत्पन्न होने वाली रति सोपाधिक रति कहलाती है। काम विशुद्ध प्रेम तथा रमणेच्छा का नाम है। श्री भागवत में गोपियों का विशुद्ध प्रेम ही काम शब्द से अभिहित है। अतः गोपियों की रति को 'कामज रति' कहते हैं। केवल रमणेच्छा जन्य कामज रति तो कुब्जा की ही थी।

इस रति के दो भेद हैं—वात्सल्य और सख्य। बाल रूप भगवान को अपना बालक समझने के कारण नन्द यशोदा का प्रेम जो पालक पाल्य रूप था उसे वत्सलक रति कहते हैं। जो लोग भगवान को न तो अपने से बड़ा ही समझते हैं न

छोटा। वे उन्हें सामान्य रूप से अपना सखा समझते थे। जैसे श्री दाम, सबल आदि। उनकी रति का नाम सख्य रति है।

भयज रति

इस भय को सिंह व्याघ्रादि के भय समान उद्वेग करने वाली मनोवृत्ति नहीं समझनी चाहिये। किन्तु दास जैसे स्वामी की सेवा में चूक न जाय इस बात से डरता है। कुलीन अनुशिष्ट सत्पुत्र जैसे पिता की शिष्य जैसे गुरू के आज्ञा पालन में त्रुटि न हो जाय इस बात से डरता है। ऐसी ही मनोवृत्ति का नाम भय है। भगवान की सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि न हो जाय इस भय से सर्वदा भगवान की सेवा में संलग्न रहना ही भयज रति कहलाता है।

२५२—हर्ष और शोक वास्तव में मन की स्थितियाँ हैं। मन को वश में रखना तुम्हारे हाथ में है। अपने दुःख सुख का कारण यदि किसी बाहरी व्यक्ति को समझ लोगे तो उसी से राग द्वेष करने लगोगे। संभवतः ईश्वर पर भी दोषारोपण करने लगोगे। अतः समझना चाहिये अपने आपको ही।

२५३—तुम चाहो तो किसी भी विचार को मन में प्रवेश करने से रोक सकते हो। हमारी इच्छा के विरुद्ध बाह्य विचार हमारे अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। मन रूपी किले की कुञ्जी हमारे ही हाथ में है।

२५४—प्राकृतिक धर्म के विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिये अपने भाग्य पर उदास मत हो। प्रत्येक परिस्थिति के बीच अपना कर्तव्य कर्म करते रहो। मन की स्थिरता को मत जाने दो। मन पर अंकुश रखने में ही आनन्द है।

२५५---इन्द्रियों को वश में कर ईश्वर चिन्तन करो । समाविस्थ मन को ईश्वर चिन्तन में संतोष होगा ।

२५६---जो तुम्हारा अहित करता है उससे भी प्रेम करना तुम्हारा धर्म है । लोग अज्ञान वश बुरा काम करते हैं । थोड़े दिनों बाद न तुम रहोगे और न वे लोग । जब तक तुम्हारे मन को कोई कलुषित नहीं करता तब तक तुम्हारा बुरा नहीं हो सकता । अपने अच्छे गुणों को न बिगड़ने देना तुम्हारे हाथ में है । अतः सभी से प्रेम करना कुछ कठिन नहीं है ।

२५७----इन्द्रियों का ध्यान अपने हृदय के अन्दर, आत्म की ओर लगाओ । तुम्हारा अन्तःकरण उस झरने की तरह है जिसका पानी कभी सूखता ही नहीं । जितना ही गहरे उतरोगे उतना ही लाभ होगा ।

२५८----बुरे कर्मों से अपने को बचाना तुम्हारे ही हाथ में है । दूसरों को वैसे रास्ते से बचाना तुम्हारे हाथ में नहीं है । तो भी जो काम तुमसे हो सकता है वह न करके अशक्य काम करने जा रहे हो । कैसी विचित्र बात है ।

सेवा

२५९—तुम्हारी सेवा दूसरों को पहुँचे इसमें तुमको सेवा मिल जाती हैं । सेवा मिलने से कोई थकान नहीं होती ।

सेवा के बदले नाम कीर्ति की इच्छा करना मूर्खता है सेवा करना और सेवा मिलना दोनों महत्व की वस्तुएँ है । इसके उपरान्त किसी तीसरी वस्तु की खोज में मत रहो ।

२६०----कभी कोई दुःख झेलना पड़े तो दीन मत बनो । दूसरों की दया की आशा न करो । खुशामद मत चाहो बुद्धि पूर्वक

सोचो तुम्हें क्या करना चाहिये ? किस वस्तु से दूर रहना चाहिये । जो भी काम करो पर हित ध्यान में रक्खो ।

२६१---वाहर की ओर देखना छोड़कर अपने अन्तःकरण की ओर देखो । शान्ति पाने का यही एक मार्ग है । प्रकृति का स्वभाव और रहस्य समझने का यत्न करो । दूसरे के मन को भी सम्यक प्रकार से समझने का प्रयत्न करो । तभी तुम्हें मालूम होगा कि उसने कौन सा काम जान बूझ कर किया है । और कौन सा विना समझें बूझे ।

२६२----सब दुर्गुणों और दोषों की एकमात्र औषध तुम्हारा अपना सद्गुण है । जो द्वेष करे उससे प्रेम करना ही उसको सुधारने का मार्ग है । प्रत्येक अवगुण, गुण से सुधरता है । जिनसे भूल होती है वे दानव नहीं हैं मानव हैं अवश्य सुधर सकते हैं । रास्ता भूलने वाले को सही रास्ता दिखलाओ । उसकी भूल से तुम्हें क्या हानि पहुंची । यदि तुम्हारा स्वभाव नहीं विगड़ा हानि लाभ तो तुम्हारे मन की स्थितियाँ हैं । जो मूर्ख है वह अन्य प्रकार का वर्ताव कैसे कर सकता है । उस वेचारे पर क्रोध क्यों करना ।

२६३----मनुष्य बुद्धिशील है । वह अपनी शक्ति को पहचानता है । वह अपने को चाहे जैसा वना सकता है । अन्य प्राणियों और वनस्पतियों की खूबियों का अनुभव दूसरे करते हैं । जब कि मनुष्य अपने विशेषताओं का अनुभव स्वयं कर सकता है ।

२६४----रे मन ! तू संपूर्ण आनन्द कब पायेगा ? तुझें स्थिति-प्रज्ञता कब प्राप्त होगी ? सर्व व्यापक प्रेम का अनुभव तुझे कब होगा तू तृष्णा रहित कब वनेगा ? तेरी वन्धु वान्धव और धन दौलत

कां चाह कब हटेगी । परमेश्वर की शक्ति को तू कब पहचानेगा ?

२६५—व्यर्थ की चिन्ता छोड़ो । तुम परमेश्वर के दास बनो । विनय और भक्ति से पूर्ण जीवन बिताओ । गौरव इसी में है । अहंकार और दम्भ छोड़ो । अन्दर अहंकार हो बाहर विनय हो । यह बहुत बुरा है ।

२६६—परोपकार सर्वश्रेष्ठ पुण्य है ।

दूसरों को पीड़ा देने के समान कोई पाप नहीं ।

पवित्र तीर्थ है अपना पवित्र चित्त है ।

चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है ।

जैसा कोई विचार करेगा वैसा हो जायेगा ।

इच्छा एक बिमारी है । वह आपको दुविधा में रखती है ।

पहले तुम योग्य अधिकारी बन जाओ फिर इच्छा करो ।

जब तुम योग्य अधिकारी बन जाओगे तब इच्छा किये बिना मुराद आ मिलेगी ।

कामनाओं का निग्रह ही धर्म और मोक्ष है ।

जो मायावी पदार्थों का ममत्व दृष्टि से नहीं देखता वह भव से पार हो जाता है ।

२६७—ज्ञानी को पहले केवल परोक्ष ज्ञान होता है । तत्व ज्ञान को प्राप्त होना तो बड़ी लम्बी साधना का ही फल है । कोई भी व्यक्ति इस परिस्थिति को तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक उसने विभिन्न जटिलताओं की पृष्ठ-भूमि में गहन अनुभूतियों को भली भाँति न समझा हो । मानव प्रकृति का पूर्ण रूपेण परिवर्तन एक दीर्घकालीन क्रिया है । अनेक जन्मों के पश्चात् ही ज्ञानी यह अनुभव कर पाता है कि सब कुछ वासुदेव ही हैं । (ज्ञानी)

२६८—दूसरों के प्रति दया और स्नेह रखना।

सत्य ही भगवान है।

आप जियो और दूसरों को भी जीने दो।

सबसे पहले अपने को कसो।

क्षमा के द्वारा क्रोध का परित्याग करो।

सत्य, दया, सन्तोष, छमा, त्याग, वैराग, निःस्पृहता, परोपकार निष्काम, निःस्वार्थता, विवेक, स्थिरता, निर्भयता, शील स्वभाव, निर्लेप, शान्ति, धैर्य रति सहन शक्ति को धारण करो। (चेतावनी)

२६९—जो दूसरों को पवित्र देखना चाहता है उसको संशयातीत होना चाहिये।

२७०—क्षमा के बराबर संसार में कोई दान नहीं है।

२७१—जो मनुष्य अभिमान में मस्त है वह क्या दया दिखा सकता है कभी नहीं।

२७२—निश्चय करो कि मुझसे कोई बुराई न हो। मेरे द्वारा किसी का दिल न दुखाया जाय। सदा मन को भगवान के चरणो में रखूँगा।

जिसने क्रोध को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। सदैव दूसरों के गुणों की ओर देखो अवगुणों की ओर नहीं। मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व और महान पुरुषों का संग ये तीनों प्राप्त हो जाना अत्यन्त दुर्लभ हैं।

२७३—जब तक आत्मा और परमात्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ कल्पों में भी मुक्ति नहीं हो सकती।

२७३—गुरू की शरण ग्रहण करो।

वाह्य भोगों को त्याग कर गुरू शरण में जाकर उनके उपदेशों को ग्रहण करो और मुक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो। आत्मा का उद्धार करो।

सम्पूर्ण कर्मों का त्याग, भव बन्धन की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करो।

२७४—कर्म चित्त शुद्धि के लिये है।

तत्व दृष्टि के लिये नहीं। कर्म वस्तु सिद्धि विचार से है। इसलिए करोड़ों कर्मों से कुछ नहीं होता। सन्तोष और निष्काम होकर रहना प्रभु को खुश करना है।

२७५—किसी को अपना मानना ममता है।

आश्रम, गोत्र, जाति-पाँति में अपनापन होना ही अहङ्कार है।

२७६—(१) विवेक क्या है? (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।)

(२) वैराग्य क्या है? (दर्शन श्रवण आदि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्म पर्यन्त अनित्य भोगों में घृणा बुद्धि होना।)

(३) शम क्या है? (विषय समूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य पर स्थिर हो जाना।)

२७७—भली-भांति विचार करने से रज्जू तत्व का भ्रम से उत्पन्न हुआ सर्प भय नष्ट करने वाला ज्ञान होता है। कल्याण प्रद उक्तियां द्वारा विचार करने से ही वस्तु का निश्चय होता है. सैकड़ों स्नान, दान, प्राणायाम आदि से नहीं होता।

२७८—मनुष्य के गुण गिने जाते है। शरीर के गुण नहीं गिने जाते। साधन पथ पर साधक की ऐसी परीक्षा होती है जैसे अग्नि की भट्टी में सुवर्ण की परीक्षा होती है।

६

२७९ यदि अपना चमड़ा देने से स्वामी को सुख हो तो सेवक को खुशी से दे देना चाहिये।

त्याग को ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाओ।
आत्म प्राप्ति को विरला वीर ही प्राप्त कर सकता है। यह कायरों का काम नहीं है। तन, मन और वचन से पवित्र रहना चाहिये। जो मन से संग्राम कर सके वह जीतता है। जो मन से संग्राम नहीं कर सकता वह कायर है।

२८०—जीवन ही संग्राम है। कायर ही इससे भागते हैं।

२८१—तीव्र व्याकुलता से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

२८२—अपने साथियों की सहायता करो। उत्साहित, वाणी और विचार को एक करो। नाम गुणों का होता है।

२८३—सहनशीलता वृक्षों से सीखनी चाहिये क्योंकि जितना उसे पत्थर मारो उतना ही वह फल गिराता है।

२८४—भक्ति सेवा को ही कहते हैं।
जैसे शूली पर चढ़कर रोटी का स्वाद लेना कठिन है। ऐसे ही भक्ति भी।

२८५—त्याग से वैराग्य और वैराग्य से त्याग होता है।

२८६—आत्मसमर्पण करना है तो ढोल बजाने का काम नहीं। यह अन्तर का काम है।

२८७—यदि भक्त बालक की तरह प्रभू के आधार पर स्थित रहे तो प्रभू आप ही उसका कार्य कर देते हैं।

२८८—दूसरों का ध्यान करने से पहले अपना ध्यान करो।
अर्थात् दूसरों की बुराई न देखकर पहले अपनी बुराई देखो। अपने अवगुणों को दूर करो। प्रभू की तरफ बढ़ो।

२८९—दुर्बलता से ही हिंसा, राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। (Weakness in sin)

२८९—नरक के तीन दरवाजे हैं काम, क्रोध, लोभ।

२९१—सन्त की यही महिमा है यदि कोई उसका बुरा करे तब भी उसका भला करे।

२९२—पुरुषार्थ करो फल मत चाहो क्योंकि फल भी नाशवान है। मन, वचन, कर्म से किसी को दुःख मत दो।

२९३—सच्चा शिष्य गुरु के किसी बाहरी काम पर लक्ष्य नहीं करता वह तो केवल गुरु की आज्ञा ही को सिर नवा कर पालन करता है। वह किसी भी वस्तु के वशीभूत नहीं होता न आसक्ति रखता है। (शिष्य का लक्षण)

२९४—राम राम क्या करता है?
सम्पदा तुम्हारे पैरो में लोटने लगेगी। राम राम के गर्जन से डर कर यमराज के दूत भाग जाते हैं। पास नहीं आते। अतः राम राम गर्जन करते तुम चले आओ। जिस कर्म बीज के कारण पुनः पुनः जन्म होता है। राम राम के गर्जन से वह जल जायगा।

२९५—मनुष्य यदि क्रोध को जीत ले तो दानवता कुचल कर मानव बन जाय। यदि हम अहङ्कार और क्षुद्र स्वार्थ को नष्ट कर दें अपनी कामनाओं का त्याग कर दें तो पूर्ण सुख-शान्ति सम्पन्न बन जायें।

किसी की कृपा चाहना अपनी स्वतन्त्रता को बेचना है। एक साथ इन्द्रियों के गुलाम और ब्रह्माण्ड के स्वामी नहीं बन सकते।

२९६—उनकी वस्तु उन्हें ही सौंप दो।
तन, मन, धन, जन सब भगवान के हैं।
अच्छा अच्छे को बुरा बुरे को ग्रहण करता है।
विधाता ने जड़ चेतन समस्त विश्व गुण और दोष में रचा है। किन्तु सन्त रूपी हंस दोष रूपी जल को छोड़ दूध रूपी गुण को ही ग्रहण करता है।

२९७—नम्रता तथा प्रेम पूर्ण व्यवहार से सहनशीलता से देवता भी वश में हो जाते हैं।

२९८—घृणा करना शैतान का काम है। क्षमा करना मनुष्य का धर्म है। प्रेम करना देवताओं का गुण है।

२९९—जैसे कीट वस्त्रों को कुतर डालता है इसी प्रकार ईर्ष्या मनुष्य को नष्ट कर देती है।
क्रोध आने पर शान्त हो जाओ राम का नाम लेकर उसे बाहर निकाल दो।

३००—जो प्रभू शरणागत वत्सल है, लाखों शरणागतों की रक्षा करता है क्या तुम्हें छोड़ देगा ? विश्वास रक्खो कभी नहीं।

३०१—भाग्य और पुरुषार्थ का झगड़ा रोज चलता है। पुरुषार्थ करते रहो। परिणाम ईश्वर पर छोड़ दो।

३०२—जैसा अपने प्रति व्यवहार चाहते हो वैसा ही दूसरों के प्रति करो।

३०३—जहाँ गुणवान रहते हैं वहाँ की शोभा बढ़ जाती है। जैसे दीपक के पास की सभी वस्तुएँ जगमगाती रहती हैं।

३०४—भजन के लिये मरन करना है अर्थात् एक दिन जाना है मरना है। दुःख को दूर करने के लिये त्याग ही सर्वोत्तम उपाय है।

३०४—किसी की निन्दा अथवा स्तुति करने से क्या हानि है? विश्व में एक मात्र प्रभु ही नाना रूपों में लीला कर रहे हैं। उस अद्वैत दृष्टि की प्राप्ति के लिये साधन और अभ्यास करना पड़ता है। व्यक्ति विशेष की निन्दा या स्तुति करने पर उस दृष्टि से दूर हट जाना है अतः किसी की निन्दा या स्तुति न करे।

जो दुःख सुख को समान समझता है, जो आत्म-निष्ठ है, धीमान है, जो लोह, पत्थर और काञ्चन को समान दृष्टि से देखता है जिसको प्रिय अप्रिय दोनों एक से हैं, जो आत्म प्रशंसा और आत्म निन्द को तुल्य समझता है वह गुणातीत है।

३०६—जो व्यक्ति जिस विद्या से युक्त है उसका वही इष्ट देवता है वही पूजा अर्चा के योग्य है। वही उपकारी पुरुष है। जो पुरुष एक व्यक्ति से फल लाभ करके अन्य की पूजा करता है उसका इस लोक और परलोक कहीं भी शुभ नहीं होता।

प्रारब्ध केवल परिस्थिति को लाकर सामने खड़ा कर देता है। उस परिस्थिति को अनुकूल या प्रतिकूल मानकर सुख या दुःख मान लेना तो अपनी मौज है। मान लीजिये किसी की स्त्री मर गई तो इसका मरना तो परिस्थिति है। जिसको प्रारब्ध ने उपस्थित कर दिया है पर स्त्री के मरने में दुःख से व्याकुल हो जाना यह केवल अज्ञान है। अज्ञानी पुरुष ही किसी घटना

में दुःख या सुख मान लेता है। अतः विवेक की वड़ी आवश्यकता है। जिसको सुख दुःख का विवेक है वह तो लाभ-हानि, जन्म-मरण जय, पराजय, शत्रु मित्र सब में सम रहता है।

३०७—विना वलिदान के कोई भी महान कार्य सिद्ध हो ही नहीं सकता।

३०८— ज्ञान-भक्ति-कर्म ये तीनों ईश्वर के पास पहुंचने के पद हैं। धैर्य, लगन, श्रद्धा, उत्साह और दृढ़ निश्चय, उत्साह सहित धीर वीर शासक बनो। देह सुख, धन और मान इसका त्याग करो। इसकी इच्छा मत करो। इसका नाम शुद्ध भक्ति है।

३०९ -ईश्वरानन्द का भोग करने के लिये भक्त भक्ति लेकर चलता है। तीन संयोग वड़ी तपस्या का फल है। मनुष्य जन्ममुक्ति की इच्छा महापुरुष का सङ्ग।

३१०—सत्, चित्त, आनन्द रूप।
मैं देह नहीं हूं। मैं सच्चिदानन्द परमात्मा हूं। जो मेरा निर्गुण रूप आत्मा है मैं उसको ग्रहण करता हूं। एकाग्र चित्त से इस जगत को आत्मा में देखो। और आत्मा को मुझमें देखो। ब्रह्म क्या है ? जैसे वायु। सुगन्ध और दुर्गंध सब वायु में हैं। परन्तु वायु निर्लिप्त है।

३११—पाण्डित्य का अहङ्कार अज्ञान है। एक ईश्वर ही सब भूतों में है। इस निश्चयात्मक बुद्धि का नाम ज्ञान है। उन्हें विशेष रूप से जानने का नाम विज्ञान है। पैर में काँटा लगने पर एक दूसरे काँटे की जरूरत पड़ती है। काँटे को निकालने के लिये कांटे की जरूरत पड़ती है। कांटा निकाल लेने के बाद

दोनों कांटे फेंक दिये जाते हैं। मैं और मेरा यही अज्ञान है। सब भूतों में ईश्वर का वास है।

जो प्रभू पर विश्वास करता है। उसके लिये ये सब कुछ सम्भव है।

३१२—छोटी गड़ही में हाथी उतर जाता है तो पानी में उथल-पुथल मच जाती है परन्तु बड़े सरोवर में कहीं कुछ नहीं होता। गम्भीरता के भीतर भाव का हाथी के उतारने पर उसका कहीं कुछ नहीं होता। (गम्भीर आत्मा)

३१३—सन्यासी की अविद्या माँ मर जाती है और विवेक पूजा हो जाती है। अविद्या माँ के मर जाने पर अशोच होती है इसलिये कहते हैं कि सन्यासी को छूना नहीं चाहिये।

३१४—जीवन का उद्देश्य—ईश्वर दर्शन जरूरी है। कैसे होगा, कर्म चाहिये, साधना चाहिये। ईश्वर है इतना कहने से बैठे रहने से काम न चलेगा। उनके पास जाना होगा।
निर्जन में पुकारो यह कर प्रार्थना करो। प्रभो! दर्शन दो! व्याकुल होकर रोओ। अपनी इच्छा के लिये पागल हो सकते हो तो ईश्वर के लिये भी पागल बनो। लोगों को कहने दो। "अमुक ईश्वर के लिये पागल हो गया। न हो तो थोड़े दिन सब छोड़ कर उन्हें अकेले में पुकारो। जैसे तलाब में बड़ी मछली किनारे पर बैठने से नहीं मिलेगी। खाना डालने से धीरे-धीरे आगे आयेगी उस समय आनन्द आयेगा। जिन्होंने मनुष्य के भीतर दया दी उनमें न जाने कितनी दया होगी।

३१५—संकल्प पूरा होने तक दीनता बनी रहती है। संकल्प पूरा

होने पर अभिमान आ जाता है। नये संकल्प का जन्म हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर आसक्ति रहित जीवन ही नित्य आनन्द मन है। शरीर से असङ्ग हो जाने पर सुख दुःख की जड़ कट जाती है। ईश्वर का दर्शन ही सब धर्मों का उद्देश्य है। ज्ञान, भक्ति कर्म ये सब विभिन्न पथ तथा उपाय हैं।

३१६—निश्चय अभ्यास करने से संसार का आभास होगा। ज्ञानी का निश्चय अज्ञानी नहीं जानता। अज्ञानी का निश्चय ज्ञानी नहीं जानता। ज्ञानी और अज्ञानी का जोड़ा नहीं होता। ज्ञानी तो समदर्शी है। संसार का जो भाव है वह अपना संकल्प मात्र है। यह सब आत्मरूप है। अहं-मम को मिटा दो अहंकार नष्ट होगा।

३१७—(१) सब मैं ही हूँ। आत्म रूप मोक्ष देने वाला जीवन मुक्त है। (२) मैं सबसे अलग हूँ। बालक हूँ। जीवन मुक्त हूँ। (३) हाथ; पाँव सबको अपना समझना, संसार को अपना रूप समझना वन्धन का कारण है। यह तीनों अहंकार के कारण हैं।

३१८—सब यज्ञों में बड़ा यज्ञ है। सर्व आत्मा जानना, सभी को एक आत्मा जानना। हे अर्जुन ! तूने मुझसे प्रेम किया मन वचन कर्म से मेरा नाम लिया। यही तेरा सबसे बड़ा यज्ञ है।

ज्ञान

३१९—(१) साधन ज्ञान के लिये है। (२) ज्ञान स्वरूप प्राप्त करने के लिये है। (३) आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लेने पर कुछ भी शेष नहीं रहता। संसारी लोग प्रकृति से मोहे जा कर मुझे भूल

जाते हैं। जो मन का जितना निश्चय रखता है वैसा ही भगवान को पाते हैं। मन निश्चय चित्त बुद्धि मेरे में रक्खो। सब प्राणियों के शुभ चिन्तक बनो। संसार से अलग रहो। मेरे पाने का मतलब जन्म मरण से छूटना है। अपने में मेरा दर्शन पाया है।

रूप

३२०—पहले मैं आत्म रूप में स्थित हूँ फिर परमार्थ रूप आत्मा में प्रवेश करता हूँ। वह आत्मा कल्याण कारक है यानी उपकारी है।

('अहम् ब्रह्म' 'मैं आत्मा हूँ' यह कभी न भूलो।)

कुबुद्धि छोड़ो. सत्य मार्ग पकड़ो। कुबुद्धि छोड़ने पर सुबुद्धि आयेगी। प्रपञ्च छोड़ कर सत्य मार्ग पर चलो। अन्दर का त्याग ही ठीक है। पर बाहर का भी छोड़ो और भी अच्छा है। साधक के लिये त्याग चाहिये ही।

३२१—सिद्ध पुरुष स्वयं ब्रह्म बन जाता है। पहले साधक फिर सिद्ध रूप बन जाता है। जिसमें संशय है वह सिद्ध रूप नहीं है। शंका करने वाले का कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता। शंका मत करो। संशय आत्मा मत बनो। विश्वास निश्चय ही होना चाहिए। फिर तो पार है। संशयात्मा से भक्ति लक्ष कुछ भी पार नहीं हो सकता।

३२२—मुख्य देवता कैसा है। यही निश्चय का लक्षण है। ईश्वर एक है यही मुख्य है। भक्त के लक्षण क्या हैं? मैं कौन हूँ? सभी कुसङ्गत छोड़ देवता जानो। फिर अपने को जानो तुम कौन हो। शरीर को देखने से नहीं प्रकृति बुद्धि देखो। यदि

हृदय रूपी मन्दिर में माधव की स्थापना करना चाहते हो, यदि भगवान की प्राप्ति करना चाहते हो तो भों-भों करके शंख वजाने से क्या होगा ? पहले चित्त को शुद्ध करो, मन शुद्ध होने पर भगवान पवित्र आसन पर वैठेंगे । इन्द्रियों की निष्ठा रहने पर माधव को लाया नहीं जा सकता ।

३२३—मन संसार में लगा है इसलिये भगवान में नहीं लगा अगर मन अपने पास रहे तो साधन भजन होगा । सदा गुरू का सङ्ग करो । साधु सग परमावश्यक है । या तो एकान्त चिन्तन या साधु संग, मन अकेला रहने से भी धीरे-धीरे सुख पाता हैं । सन्तों का सङ्ग करके संशय मिटा लो । सिद्ध का लक्षण सन्देह नहीं है । निःसन्देह, निराकार को पहचानना कठिन है ।

३२४—देह बुद्धि से ब्रह्म नहीं पहचान सकते । ब्रह्म पहचानने के लिये ब्रह्म बुद्धि चाहिये । जव तक अपने में काम है, तभी तक स्त्री पुरुष में कोई भेद नहीं रह जाता । ज्ञान भक्ति-कर्म—ये तीन ईश्वर के पास पहुँचने के पथ हैं ।

३२५—ईश्वर पहले साधक के हृदय में प्रेम, भक्ति, विश्वास तथा व्याकुलता आने के पहले ही भर देते हैं ।

हरि पाने के लिये सर्वस्व त्याग करो हरि पाने का सरल रास्ता है निष्काम प्रेम से वैराग्य होता है । प्रभु की दया का सदा अनुभव करो । जो काम करो उसमें दृढ़ रहो । आज्ञा पालन करते हुए पुरुषार्थ करना चाहिये ।

३२६—भाव ही भगवान हैं ।

(१) जो भगवान का भक्त होगा वह भक्तों का भक्त होगा ।

(२) मन और मुख (वाणी) को एक करना ही साधन है ।

(३) अहेतुकी भक्ति ही श्रेष्ठ है। (४) संत संगति-सतगुरू सेवा ही भक्ति है। (५) संसार दो किस्म का है। भले को भला बुरे को बुरा।

३२७—भगवान कहते हैं—गुण अवगुण दोनों मेरी माया से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये गुण अवगुण दोनों को छोड़ दो। निर्गुण हो जाओ।
चित्त हर्ष शोक बाँटता है। आत्मा कुछ नहीं बाँटती है। राम नाम रटता है।

३२८—इच्छा हीन, संतुष्ट, सुख दुख रहित, भय रहित, हर्ष शोक रहित, निश्चल बुद्धि, मन भगवान गुरू चरणन में लगा, इन्द्रिय वश, सन्यासी ही सन्यासी के लक्षण हैं।

३२९—जब तक मन हमारे वश में न हो जाय तब तक मन के कहे अनुसार न चलना चाहिये। यद्यपि मन बड़ा बलवान है। इसको वश में करते समय साधक को अनेक बार हारना पड़ता है। परन्तु इससे निराश नहीं होना चाहिये। प्रयत्न करते रहने पर एक न एक दिन यह अवश्य वश में हो जायेगा। मन को संकल्प रहित, वासना रहित करते समय यदि मन और भी अस्थिर या अपरिच्छिन्न दिखे तो इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है। इससे निराश न होना चाहिये। ऐसी अवस्था में धैर्य धारण करना चाहिये। (मन)

३३०—जो शत्रुओं पर विजय और अपने मित्रों की अभिवृद्धि चाहते हैं उन्हें दो बातों का आश्रय लेना चाहिये। प्रज्ञा और उत्साह। प्रज्ञा का अर्थ शुद्ध बुद्धि है। शुद्ध बुद्धि वही है जो अन्तर्मुख है। विश्व कल्याण के लिये जो स्वार्थ का त्याग कर सकता है।

उत्साह का अर्थ है—अपनी शक्ति को समझ कर उसके उचित उपयोग की इच्छा। यदि ये दोनों प्राप्त हों तो व्यवहार में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती। जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है वे बाहर तो थोड़ा सा ही स्पर्श करते हैं। परन्तु भीतर बहुत अधिक फँस जाते हैं। जिनकी बुद्धि स्थूल है वे मिट्टी के ढेले के समान स्पर्श तो कम करते हैं परन्तु भीतर बहुत कम धंसते हैं। जिन्होंने भगवान का आश्रय नहीं ले रक्खा है वे छोटा सा काम शुरू करते हैं और उसके लिये अत्याधिक व्यग्र हो जाते हैं। जिन्होंने शुद्ध बुद्धि तथा भगवान का आश्रय प्राप्त कर लिया है वे बहुत से काम करके भी निराकुल ही रहते हैं।

३३१—पारस्परिक सहयोग, आपसी प्रेम ऐसे होते हैं कि यदि मैं एक बार शैतान भी बन जाऊँ तो वे ढाढ़स बाँध कर कहते हैं, "अरे अभी हम हैं, हम तुम्हें कभी न छोड़ेंगे।' सचमुच यह बड़ा सौभाग्य है। सुख में, दुःख में, अकाल में, दर्द में, कब्र में, स्वर्ग में, नर्क में, जो मेरा साथ न छोड़े—सचमुच वही मेरे मित्र हैं। ऐसी मैत्री क्या हँसी मजाक है। ऐसी मैत्री से मानव को मोक्ष तक मिल सकता है। सचमुच मोक्ष ऐसा ही प्रेम करने से मिल सकता है। यदि ऐसी भक्ति आजावे तो वही सारी ध्यान धारणाओं का सार है। आपको किसी देवता का पूजन करने की आवश्यकता नहीं यदि इस दुनिया में आप में वह भक्ति है, वह श्रद्धा है, वह शक्ति है, यह प्रेम है।

(साथी)

३३२—ईश्वर का नाम लेने से तथा आन्तरिकता के साथ उनका चिन्तन करने से पाप भाग जाता है। जैसे रुई का पहाड़ आग लगते ही क्षण भर में जल जाता है। अथवा वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी ताली बजाते ही उड़ जाते हैं। मन ही बन्धन

मन से ही मोक्ष। 'मैं मुक्त पुरुष हूँ संसार में रहूँ या जङ्गल में मुझे कैसा बन्धन।' मैं ईश्वर को सन्तान हूँ। राजाधिराज का पुत्र हूँ। मुझे भला कौन बाँध कर रक्खेगा। यदि साँप काटे जो जबर्दस्ती विष नहीं है विष नहीं है, कहने से विष उतर जाता है उसी प्रकार "मैं बद्ध नहीं हूँ मैं मुक्त हूँ इस बात को कहते-कहते वैसा ही बन जाता है। मुक्त ही हो जाता है। मैंने ईश्वर का नाम लिया हैं क्या अब भी मेरा पाप रहेगा? भला मेरा बन्धन क्या है पाप क्या है। केवल "पाप" और 'नरक' ये सब बातें क्यों? एक बार कहो कि मैंने कुछ अनुचित काम किया हैं वही किया अब और नहीं करूँगा। साथ ही ईश्वर के नाम पर विश्वास करो। यदि कमरे में अन्धेरा है अंधेरा २ कहने से क्या होगा? रोशनी जलाओ तभी ता। उजाला होगा।

(पाप)

२२३--प्यार के बदले हमें मिलता है दुःख। इसलिये नहीं कि हम प्यार करते हैं। वरन इसलिये कि हम बदले में चाहते हैं प्यार। जहाँ चाह नहीं है वहाँ दुःख भी नहीं है चाह ही दुःख की जननी है। किसी वस्तु के लिये कोई प्रार्थना मत करो। बदले में कोई चाह न रक्खो तुम्हें जो कुछ देने को हो दो। वह तुम्हारा वापिस आ जायेगा परन्तु आज ही इसका विचार मत करो वह हजार गुना हो वापिस आयेगा। पर तुम अपनी दृष्टि उधर मत देने की शक्ति उत्पन्न करो। दे दो बस काम खत्म हो जायेगा। चाहे हमें प्रत्येक कार्य में असफलता मिले, हमारे टुकड़े-टुकड़े हो जायें और खून की धार बहने लगे फिर भी हमको अपना हृदय थाम रखना चाहिये। इन आपत्तियों में ही अपने ईश्वर की घोषणा करनी होगी। इस प्रकार अनासक्त होने के लिये अति दैवी शक्ति की आवश्यकता होती है।

हम बचपन से ही सर्वदा दूसरों पर दोष मढ़ने का प्रयत्न किया करते हैं। हम सदा दूसरों के सुधार करने को तत्पर रहते हैं पर अपने सुधार में नहीं।

सबसे प्रथम सीखने का पाठ यही है कि निश्चय कर लो कि बाहरी किसी भी वस्तु पर तुम दोष न मढ़ोगे उसे अभिशाप न दोगे।

क्या यह लज्जा की बात नहीं कि एक बार तो हम अपने को देवता होने की बड़ी-बड़ी बातें करें। हम कहें कि हम सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं, निर्दोषी हैं, पाप हीन हैं, दुनिया में निःस्वार्थी हैं। और दूसरे ही क्षण एक छोटा सा पत्थर भी हमें चोट पहुँचा दे। किसी साधारण से साधारण पुरूष का जरा सा भी क्रोध हमें जख्मी कर दे। यदि हम देवता हैं तो क्या ऐसा होना चाहिये। क्या दुनिया को दोष देना न्याय है।

दुःख पर दुःख स्वीकार कर और यह मान कर कि दुनिया हमें चोट पहुँचाने जा रही है। तुम अपने अपराध को अधिक बढ़ाते जाते हो। यह तो दुःख पर झूठ का रङ्ग चढ़ाना है। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देना ही छोड़ देना चाहिये। क्योंकि दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हैं। (बदला)

२३४--देखो जितने दिन माया रहती है उतने दिन आदमी कच्चे नारियल की तरह रहता है। यदि उसका गूदा निकालना चाहो तो गूदे के खोपड़े का कुछ अंश छिल कर निकल आवेगा। जब माया निकल जाती है तो वह सूख जाता है। नारियल का गोला खोपड़ें से छूट जाता है। जब भीतर खड़खड़ाता है आत्मा अलग और शरीर अलग हो जाती है।

फिर शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह जो मैं है 'बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ लाकर खड़ी कर देता हैं। यह मैं दूर होगा कि नहीं ? देखा कि उस टूटे हुए पेड़ मकान पर पीपल का पेड़ पनप रहा है उसे काट दो फिर दूसरे दिन देखो उसमें कोपल निकल रही है। वह "मैं" भी उसी तरह का है। प्याज काटो सात बार धोओ परन्तु उसकी बू जाती ही नहीं। केवल सुनने से क्या होगा ? कुछ करो भी" भंग भंग रटने से क्या होगा ? उससे क्या कभी नशा हो सकता है ? इसीलिए कुछ साधन करो। तब स्थूल, सूक्ष्म और महा कारण किसे कहते हैं समझ सकोगे। जब ईश्वर से प्रार्थना करो तब उनके पाद पद्मों में केवल भक्ति माँगो। अहल्या के शाप मोचन के बाद—भगवान रामचन्द्र जी ने अहल्या से वरदान माँगने को कहा तब उसने कहा यदि वर देना है तो यही दो यदि शूकर योनि में भी जन्म हो तो तुम्हारे पाद पद्मों में ही जन्म हो।

३३५—ज्ञान योग इस युग में बहुत कठिन है। एक तो जीव का अन्न में प्राण है। उस पर आयु कम है। देह बुद्धि किसी तरह भी नहीं जाती। इधर देह बुद्धि न जाने से पूर्ण रूप ब्रह्म ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी कहते हैं "मैं वही ब्रह्म हूँ मैं शरीर नहीं हूँ।' 'मैं', भूख, प्यास, रोग, शोक जन्म-मृत्यु दुःख सुख इन सबका बोध रहे तो तुम ज्ञानी क्यों कर होगे ? इधर हाथ कटने से हाथ बहुत दर्द कर रहा है खून की धारा बह रही है परन्तु वह कहता मेरा क्या हुआ ? इस युग के लिए भक्ति योग है। इसके द्वारा दूसरे पथों की तुलना में आसानी से ईश्वर के पास जाया जाता है। परन्तु ये सब कठिन पथ हैं। कवियों का जीवन कर्म बाकी है, उतना निष्काम कर्म द्वारा चित्त

शुद्धि होने पर भक्ति आयेगी। भक्ति द्वारा भगवान की प्राप्ति होती है। देह बुद्धि रहते सोऽहं नहीं होता अर्थात् सभी वासनायें मिट जाने पर सर्व त्याग होने पर तब कहीं समाधि होती है। समाधि होने पर बल का ज्ञान होता है भक्ति योग सरल व मधुर है। सेव्य-सेवक भाव ही अच्छा है।

(ज्ञान-शक्ति)

भाव

३३६—संसार में सभी विषय विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। राजमहल, ये सुवर्ण मुद्राएँ, यह हाथी घोड़े किसी काम नहीं आयेंगे। ये सगे सम्बन्धी ऐन मौके पर छोड़ देंगे। उनकी ओर से आँखें बन्द कर लो अन्तर्मुख हो जाओ जहाँ केवल मैं ही मैं रहता हूँ। तुम स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से पृथक हो। इन शरीरों को ही आत्मा मानने के कारण तुम्हें आवागमन के चक्कर में भटकना पड़ रहा है। छोड़ दो इन्हें स्वर्ग की भी परवाह न करो। ब्रह्म लोक की भी इच्छा न करो। उनकी आयु बहुत थोड़ी है वे कर्म परतन्त्र तुम नित्य मुक्त नित्य स्वतन्त्र आत्मा हो।

ये बद्ध और मुक्त गुणों की दृष्टि से ही है। वास्तव में नहीं। और ये गण माया मूलक हैं इसलिए मुझमें न बन्धन है और न मुक्ति। जैसे स्वप्न में अपने को बंधा मान कर कोई मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। तो वह तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसका स्वप्न टूट जाय। वैसे ही जो माया में पड़े हुए हैं उनकी दशा है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का बन्धन काट डालो। प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का संकल्प हो मत करो। मत किसी की स्तुति करो। मत किसी की निन्दा करो।

तुम अपने कर्म के स्वामी हो। दूसरों के कर्म के नहीं। कोई तुम्हारी निन्दा करे या स्तुति समान रहो।

सत्संग

३३७—बहुत बड़ी विद्या प्राप्त हो,परन्तु भगवत्तत्व का बोध न हो तो वह किसी काम का नहीं है। वह सच्ची विद्या है जिसमें मेरे पवित्र गुण और लीलाओं का वर्णन रहता है। विद्या और बुद्धि का उपयोग है।—आत्मा को जानने में। आत्मा का ज्ञान का वास्तविक रूप यह है कि नानात्व की भ्रान्ति मिट जाय। मन को अर्पित कर दो उसी में। बुद्धि को लगा दो मुझमें। तुम मेरे हो मुझमें ही रहोगे। यदि तुम ऐसा न कर सके तो सत्संग करो। संत मेरा जो रूप बतलावें उनका ध्यान करो, चिन्तन करो। साकार, निराकार, विष्णु, राम, कृष्ण सब मेरे ही रूप हैं। किसी का ध्यान करते हुए शान्ति तत्ति तितिक्षा आदि गुणों को अपनाओ। मेरी कथा सुनो। मेरे व्रत करो, मेरे लिये नियम धारण करो और जो कुछ करो मुझे निवेदन कर दो।

मुझे सुगमता में प्राप्त करते का साधन सत्संग है। योग. साख्य, धर्म आदि कठिन हैं। सत्संग सब कर सकते हैं। शूद्र, स्त्रियाँ, अन्त्यज और बहुत से दैत्य दानव, पशु पक्षी सत्संग के द्वारा मुझे प्राप्त कर चुके हैं। सत्संग के द्वारा केवल मुझमें मन लगाओ।

३३८—इस जीवन का लक्ष्य क्या है?

इसके सम्बन्ध में बहुत से लोग अपने-अपने मन की बातें किया करते हैं। किन्तु मनमानी बात का कोई मूल्य नही है।

उनकी दृष्टि किसी न किसी सांसारिक बात पर लगी है। व उसे पाते भी हैं किन्तु कभी न कभी च्युत होना ही पड़ता है। पर जो सबसे निरपेक्ष हो गया है जिसने मुझे आत्म समर्पण कर दिया है, वह तो मेरा स्वरूप है। उसे जो कुछ सुख मिलता है वह भला और को कैसे मिल सकता है। मैं अपने भक्तों से जितना प्रेम करता हूँ उतना औरों की तो क्या बात? अपने आपसे भी नहीं करता। जो मुझे चाहते हैं वे मोक्ष भी नहीं चाहते। मेरे भक्त के सामने विषयों का प्रलोभन आ सकता है। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष है परन्तु भक्त उसे भी नहीं चाहता। मेरे भक्तों के सामने विषयों का प्रलोभन आ सकता है। परन्तु जैसे पामर लोग विषयों के अधीन हो जाते हैं वैसे वह नहीं हो सकता उसे मेरा आश्रय है मैं सब विघ्नों को नष्ट कर देता हूँ। सम्पूर्ण साधना में मेरी भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है। मैं केवल भक्ति ही से प्राप्त होता हूँ। मेरी भक्ति नीच से भी नीच को पवित्र कर देती है। जिन्हें मेरी भक्ति प्राप्त नहीं है वे चाहे जितना धर्माचरण करे सच्ची पवित्रता उन्हें नहीं मिल सकती।

जिसे मेरी लीला सुन कर रोमाञ्च नहीं हो आता, चित्त द्रवित नहीं होता। आँखों से आँसू नहीं गिरने लगते, जो प्रेम से गद्-गद् नहीं हो सकता। जो मेरे प्रेम में पागल होकर सँकोच छोड़ कर गाता है नाचता है वह सारे संसार को पवित्र करता है। उसकी बुद्धि-शुद्ध हो जाती है। विषयों का ध्यान करने वाला नष्ट हो जाता है। मेरा ध्यान करने वाला मुझे पा लेता है। अतः छोड़ दो विषय और विषयी लोगों का सङ्ग मोड़ दो अपने चित्त को मेरी ओर। बस कल्याण ही कल्याण है।

उद्धव ! यह मनुष्य शरीर बड़ा ही दुर्लभ है। सो सुलभ हो गया है। यह संसार सागर से पार जाने में जहाज का काम करता है। गुरु इसके कर्णधार हैं। मैं अनुकूल वायु हूँ। ऐसी अवस्था में जो पार जाने की चेष्टा नहीं करता वह जान-बूझ कर आत्म हत्या करता है। क्षण-क्षण आयु क्षीण हो रही है। पल-पल मृत्यु निकट आ रही है।

सम्भल जाओ, इस शरीर से पूरा लाभ उठाओ।

संसार में कोई किसी को सुख या दुःख नहीं देता। सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्रकृति के प्रवाह में बहे चले जा रहे हैं।

३३९—जो पुरुष बाहर स्पर्श करने वाले पदार्थों से चित्त वृति को रोक आत्मा में सुख पाता वही ब्रह्म में अन्तःकरण को लगाने से अक्षय अर्थात् सर्वदा रहने वाले सुख को पाता है।

३४०—जो पुरुष इसी लोक में शरीर त्याग के पहले काम क्रोध के वेग को सहता है वही योगी और सुखी है।

गोरखनाथ

३४१----एक दम अचानक जल्दी से बोलना नहीं चाहिये।

पाँव फटाफट करके यानी पटकते हुए नहीं चलना चाहिये।

धीरे-धीरे पैर रखना चाहिये।

घमंड नहीं करना चाहिए।

सदैव सहज स्वभाविकी स्थिति में रहना चाहिये।

जो भरे पूरे और ज्ञान स्थिति में हैं वे ही स्थिर और गम्भीर होते हैं। ऐसे पूरे योगी अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। भरा हुआ घड़ा छलकता नही है।

भक्ति में उल्लास और उत्साह मालूम होता है।

३४२—विश्वास हो गया तो हमारा कल्याण हो गया। परदा किस पर पड़ता है बुद्धि . . (भला वचन)

३४३—(१) हृदय में जो अज्ञान की ग्रन्थि पड़ी हुई है जिसके द्वारा असत् पदार्थों को सत्य समझे बैठे हैं। वह ग्रन्थि खुल जाती है।

(२) अज्ञान संशय के द्वारा उत्पन्न होता है और संशय ही विनाश का मुख्य हेतु है। (३) परावर के साक्षात् हो जाने पर सर्व संशय आप से आप मिट जाते हैं। संस्कृति का मुख्य हेतु है कर्म बन्ध। (भगवद् दर्शन के तीन मुख्य धर्म)

३४४—वैराग्य का पिता पश्चाताप है। पश्चाताप के बिना वैराग्य नहीं हो सकता। जब किसी महात्मा के संसर्ग से हृदय में अपने पुराने कृत्यों पर पश्चाताप होगा तभी वैराग्य की उत्पत्ति होगी। वैराग्य का पुत्र त्याग है। त्याग से ही उत्पन्न होता है। बिना वैराग्य के त्याग ठहर ही नहीं सकता है।

किसी काम को सफल बनाने के लिये प्रेम, ज्ञान और कर्म इन तीनों की जरूरत है। जीव के सारे कर्म इन तीन गुणों पर खड़े है। तिपाई का यदि एक पाँव भी टूट गया तो वह खड़ी नहीं रह सकती। तीनों पाँव चाहिये। वृत्ति इतनी भक्ति मय तल्लीन हो जानी चाहिये कि कष्ट भूल जाँय। भक्ति-तत्व हमारी जीवन नौका को पानी की तरह सुलभता से प्राप्त करा देता है आत्म-दर्शन कोई हँसी खेल नहीं है। परमार्थ मार्ग की शर्त यह है कि "मैं निराशा मात्र को तिल भर जगह न दूं।"

"क्षण भर भी मैं निराश होकर न बैठूं।" इसके सिवा परमारथ का दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है। कहता है—भगवान मैं तुम्हारे लिये कहाँ तक तप करता रहूँ यह कहना गौण है। ताप और संयम इतना अभ्यास करले कि वह हमारा स्वभाव ही बन जाय।

३४५—आग लगने पर कुआँ खोदने में प्रयत्न करना मूर्खता है। जिस समय भाग्योदय होता है और पुण्य कर्मों के संस्कार जागृत होते हैं उस समय आप जैसे महानुभावों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। संस्कार ही जीवन पथ के परिचायक चिन्ह हैं। जैसे संस्कार होंगे उन्हीं के अनुसार जीवन आगे बढ़ेगा। संयम और नियम ही उन्नति के साधन हैं।

३४६—सच्चा प्रेम कभी मरता नहीं, काल भी उसे मार नहीं सकता।

३४७—जो कुछ मिले उसी में सन्तोष रखना, दूसरों से डाह न करना यही शान्ति के खजाने की कुञ्जी हैं।

३४८—अपने को हराना भला है, जगत को जीतने दो जो हारता है वही हरि से मिलता है और जो जीतता है वही यम के द्वार जाता है।

३४९—शरीर जल से पवित्र होता है। मन सत्य से। आत्मा धर्म और बुद्धि ज्ञान से पवित्र होती है।

३५०—जो गुणी होते हैं वे अपने जिम्मेदारियों की बात सोचते हैं। जो गुणहीन होते हैं वे अपने अधिकारों का नाम रटा करते हैं। हमें इस बात में विश्वास करना चाहिये कि जो सत्य है उसी में सारी शक्ति निहित है। इसलिये हमें पूरे विश्वास के साथ अपने कर्तव्य मार्ग पर आगे बढ़ते जाना चाहिये।

३५१—खाली दिमाग और बकवादी जीभ में गहरी मित्रता है। एक छोटी और छिछली बातों को सोचता है। दूसरी उनका प्रचार करती है।

३५२—गिरने वाले से, गिर कर उठने वाला श्रेष्ठ है। क्योंकि वह खाइयों को देख चुका है।

३५३—सुख किसमें-सन्तोष में। परन्तु संतान से सन्तोष होना ठीक है। भगवत् भजन, भगवत्प्रेम में महान् विघ्न रूप है।

३५४—भगवन्! जब लङ्गर उठा कर तुझे सौंप दी तब मेरे पास सोचने के लिये रह ही क्या गया? नाव डूबेगी या पार लगेगी तो कैसे? कब? कहाँ क्या अब भी सोचते ही रहना है क्या?

यह सब तो पहले से सोचने की बात थी। जब लङ्गर उठाकर नाव तुझे सौंप दी तब मेरे पास सोचने के लिये रह ही क्या गया?

३५५— मनुष्य भावना मात्र से ही मुक्त हो जाता है। उसे करना कुछ नहीं है। विचारवान मनुष्य दिब्य भाव से नित्य परमात्मा की ओर से,जीव से यह प्रश्न करते हैं कि क्या तू मोक्ष के परमानन्द को चाहता है?

यदि हाँ तो अनित्य सुख की ओर से अपने मन को हटा कर परमानन्द की खोज छोड़ केवल उसकी सर्वोत्तम इच्छा कर। परन्तु विरला ही कोई जीव उस ध्वनि को सुनता है या उसका सन्तोषजनक उत्तर देता है। जिसने उस ध्वनि को अपने मन के रेडियो पर स्थान दे दिया वह मानो भव से पार हो गया।

भावना एक कल्प वृक्ष है जिस प्रकार कल्प वृक्ष के निकट जाते ही मनो अभिलिषित फल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार भावना के अनुसार फल मिलने में सन्देह नहीं करना चाहिये। सभी प्रकार की उन्नतियों का मूल भावना ही है।

मेरा भक्त दयालु होता है। किसी भी प्राणी से वैर भाव नहीं रखता, समदर्शी और सबका उपकार करने वाला होता है। सब दुःखों को प्रसन्नता से सहते है। पाप वासना-रहित और सत्यसार होता है। सब प्राणियों में मेरी भावना करे, यही मेरा धर्म है यही मेरी प्राप्ति का श्रेष्ट साधन है।

(भावना)

३५६—भगवान श्याम सुन्दर कहते हैं—हे प्रिय! तुझ सरल देख कर मन खोल कर तुझसे कहता हूँ मुझे भजेगी तो तुझको केवल रोना ही रोना होगा पग पग में विपत्ति भोगनी पड़ेगी। मैं तो वन में घूमता हूँ। मुझमें माया की गन्ध भी नहीं है। सदा स्वेच्छा मय हूँ। तुझको छोड़कर चला जाऊँगा और तू ढूंढ़ कर भी मुझे न पा सकोगी। (प्रीति)

३५७—सुनो! सखियों ने श्री कृष्ण के हाथ राधा को क्यों अर्पण किया। क्योंकि अति प्रिय बन्धु के निमित्त सर्वोत्तम वस्तु देने की सभी की इच्छा होती है। उन्हें अपने को देखकर तृप्ति नहीं हुई। क्योंकि उन्होंने अपने को मलीन समझा। राधा की प्रीति पवित्र और निर्मल है और वह कृष्ण का हृदय शीतल करेगी। इसलिये उन्होंने राधा का दासी पद लिया और कृष्ण को राधा देकर सुखी किया। राधा को पाकर कृष्ण अत्यन्त सुखी

हुए और सखियों का चरम (अत्यन्त यत्परो नास्ति) सुख यही है।

३५८—पहले श्रद्धा तव सङ्ग फिर भजन किया तदन्तर अनर्थ निवृत्ति, तत्पश्चात तव गुण लीला आदि श्रवण में अभिलाषा, उसके पीछे आसक्ति तदुपरान्त शुद्ध भाव इसके पीछे ही प्रेम का उदय होता है। यही शास्त्रीय क्रम है। परन्तु मैं तो कहता हूँ कि प्रेम से भी पीछे 'प्रीति' का उदय होता है।

३५९—हे प्रिय एक अति गुप्त रहस्य कहता हूँ। सुन, यदि निश्चय करके, जाना जाये कि मनोकामना अवश्य पूरी हो जावेगी, तो मिलने पर (कामना) पूर्ण होने पर क्या. कभी आनन्द हो सकता है, केवल सन्देह आनन्द वर्धक है। सन्देह ही जीव का अमूल्य धन है। यदि वियोग और सन्देह नहीं रहते तो कहों कभी संसार सरस होता। (श्री भक्त)

३६०—रोने में हँसी और हँसी में रोना यह सृष्टि का नियम है।

३६१—इस संसार में विपरीत वस्तु न होने से कभी-कभी इसका ज्ञान नहीं होता। अमावस्या बिना चाँदनी का भोग कौन भोग सकता हैं। चाँदनी का भोग करने को अमावस्या उत्पन्न हुई। लोग नहीं समझते। यदि रोज ही लोग पूर्ण चाँद देखें तो चाँद को देखने में आनन्द नहीं आएगा।

३६२—जितना ही वियोग उतना ही संयोग। जितना शोक उतना भोग। जितना किसी को प्रमाद (कष्ट) होगा उतना ही प्रसाद (फल) भी मिलेगा। जितना दुख जिसको वह उसके सुख की खान है। जिसको दुःख नहीं उसको सुख नहीं।

३६३—वियोग न हो तो संयोग न होगा। इसलिये वियोग का सृजन हुआ। यदि वियोग का दुःख न हो तो प्रीति का सुख स्वाद किस प्रकार हो? यदि संयोग और वियोग हो तो संसार अन्धकार मय हो जाय और ईश्वर का अस्तित्व ही लोप हो जाय।

३६४—इस संसार में बुरा कुछ नहीं है अवस्थानुसार भला बुरा होता है।

३६५—दैवी सम्पत्ति के गुण भक्त का बाना है। जहाँ भक्ति है वहाँ दैवी सम्पत्ति के गुण हैं। जहाँ भक्ति है वहाँ दैवी सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। जहाँ सूर्य है वहाँ उजियारा है। अन्धेरा नहीं। जहाँ भक्ति रूपी सूर्य का उदय है वहाँ प्रकाश रूप दैवी सम्पत्ति अवश्य ही फैल जायेगी।

३६६—यह प्रेम रूपी भक्ति एक होकर भी।

(१) गुण माहात्म्या शक्ति (२) रूपा शक्ति (३) पूजा शक्ति (४) स्मरण शक्ति (५) दास्या शक्ति (६) संख्या शक्ति (७) कान्ता शक्ति (८) वात्सल्य शक्ति, (९) आत्म निवेदनाशक्ति, (१०) तन्मयताशक्ति (११) परम विरहशक्ति, इस प्रकार से ग्यारह प्रकार की होती हैं।

शान्ति का प्रधान उपाय वाणी वशीकरण

३६७—जितने ऋषि मुनि महापुरुष हुए हैं। उन्होंने पुकार पुकार कर कहा है…'ऐ संसार के लोगों यदि तुम लोग सुख और शान्ति चाहते हो तो वाणी में संयम और मिठास लाओ। सृष्टि नियम, अनुकूलता से चलाने वालों के लिये वायु मिठास लाती है। नदियाँ औषधियाँ हमारे लिये मीठी हैं। सब वस्तुओं में

मधुरता हो। सब मिठास ऋतु के अनुसार हैं। ऋतु का अर्थ-सरल सीधा सृष्टि का नियमानुकूल होना—

मीठा बोलो, बुद्धि के साथ बोलो, बुद्धि रहित मधुर भाषा किस काम की। यदि वक्ता में बुद्धि हो तो वह अप्रिय सत्य को भी प्रिय बना लेगा।

वाणी से ही मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। वाणी से ही नरक का अधिकारी होता है।
जिसने वाणी की स्थापना नहीं की वह चाहे कितना भी प्रयत्न करे परन्तु वह साधारण मनुष्य ही रहता है। दुःखी जीवन व्यतीत करता है। कारण न कहने योग्य बातें कह जाता है। मनुष्य मात्र को सुख दुःख का ध्यान रखना अपेक्षित है। मानव के सामूहिक मंगल के लिये परोपकार मानव की अत्यधिक वृद्धि नितान्त आवश्यक है।

लोक और परलोक दोनों के ही भोग असत हैं ऐसा समझ कर न तो उनका चिन्तन ही करना चाहिये न भोग ही।

जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तु के साथ राग द्वेष का भाव नहीं रखता तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये सभी दिशायें सुखमयी बन जाती हैं।

३६८—अंतः करण शुद्धि के तीन उपाय; कर्म—ज्ञान—भक्ति।
ये तीनों साधन-उपाय-योग के बिना ढीले फीके एवं अव्यवस्थित रहते हैं। इसलिये इनमें योग संयुक्त किया गया और उपर्युक्त साधनों के नाम कर्म-योग-ज्ञान योग, भक्ति योग निश्चित हुए। इन तीनों योगों के सहारे मनुष्य पिण्डी को मेट पलट कर ब्रह्माण्डी मन को जाग्रत कर सकता है।

पिण्डी मन के लक्षण भोग और लिप्सा प्रपञ्च हैं। अपने मन के वास्तविक स्वरूप को परखना। जब तक मनुष्य पिन्डी मन के आधीन है तब तक चाहें वह मनुष्य अपने आपको पिंजड़े की किसी भी जगह का वासी समझें मूलतः भोगसक्ति ही है। उसका अपने आपको छोटा बढ़ा चढ़ा समझना केवल माया भ्रम हीं है।

कर्म मार्ग को निर्मल बनाने के लिये कर्म परम्परा में सफलता पाने के लिये ज्ञानाश्रयी कलाओं और भाँति-भाँति की विद्याओं का आश्रय ग्रहण किया गया। आत्मा का अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। परन्तु मार्ग में बड़ी-बड़ी जटिलताएँ आती रहीं। अन्त में भक्ति मार्ग का उदय हुआ। लोग अत्यधिक श्रद्धा से भक्ति-पथ पर चलने लगे। भक्ति का अर्थ ,अनुराग' 'अथवा 'प्रेम' माना गया है। भक्ति वह है जिसमें आवश्यक अनाशक्तियों की अपेक्षा आत्मानुराग की महत्ता है। भक्ति वह दिव्य तत्त्व है जिसमें कर्म काण्ड की चतुरता भरी युक्तियों की अपेक्षा हृदय की निर्मलता के माध्यम से परमतत्व तक पहुँचना माना गया है। कर्म में रजो गुण है। ज्ञान में युक्तियाँ हैं। पर भक्ति में केवल निर्मल अन्तःकरण की महत्ता है। अमुक भक्ति मार्गीय है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि केवल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा सर्वेश्वर अखिलेश्वर की कृपा प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता है।

संसार में समय समय पर प्रभु प्ररणा में अलौकिक विभूतियाँ अवतरित होती हैं। जो साधु, सन्त, महात्मा, ऋषि-महर्षि-योगी-पीर-पैगम्बर-सिद्ध आदि नामों से सम्मान पूर्वक सम्बोधित होती हैं। उनके आज्ञापालन और शरणा-गति से अन्तः करण की शुद्धि होती है। निष्कर्ष यह है कि जीवन को सफल

वनाने के लिये कर्म-ज्ञान-आदि समस्त सप्रयोगों के ऊपर भक्ति को महत्ता मिली और भक्ति का सार अन्तःकरण की शुद्धि निर्णीत हुआ।

३६९—हृदय की निर्मलता के लिये आज्ञा पालन महत्व पूर्ण आश्रय बना। यही आज्ञा पालन विकसित अवस्था में सद्गुरु- आज्ञा पालन निश्चित हुआ। इस प्रकार की भक्ति सतगुरु भक्ति नाम से प्रसिद्ध हुई। सतगुरु आज्ञा पालन ही सतगुरु भक्ति है। भक्ति मार्ग का सारांश अन्तःकरण की निर्मलता है। अन्तःकरण की निर्मलता सतगुरु आज्ञा पालन से सहज ही में प्राप्त हो जाती है। एक बार प्रयत्न करके अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर ली जाय फिर बड़ी-बड़ी बातें सुनने में समझने में कठिन नहीं रहती।

विलक्षण प्रेमावस्था

३७०—इस प्रेम को पाकर प्रेमी सदा आनन्द में मस्त रहता है। संसार की चिन्ताएँ उसको स्पर्श भी नहीं कर सकती। उसकी दृष्टि में प्रेम के सिवा कुछ रह ही नहीं जाता। वह तो प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है प्रेम का ही वर्णन तथा चिन्तन करता है।

उसके मन प्राण आत्मा प्रेम की ही गङ्गा में अनवरत अवगाहन करते रहते हैं। वह अपने सत्र धर्म और आचरण प्रेम मय श्री कृष्ण को ही अर्पण कर देता है। उनकी पलभर के लिये भी याद भूलने पर वह अत्यन्त व्याकुल वहुत ही वेचैन हो जाता है। वह सर्वत्र प्रेममय भगवान को ही देखता है। सब कुछ भगवान से ही देखता है ऐसी दृष्टि रखने वाले की नजर में

भगवान अलग नहीं हो सकते तथा वह भी भगवान से अलग नहीं हो सकते।

आप निराश कदापि न हों

३७१—आपके जीवन में ऐसे-ऐसे सङ्कट आयेंगे कि ऐसा प्रतीत होगा मानो अन्त निकट आ गया है बचने का कोई मार्ग ही नहीं है। चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देगा। प्रकाश की एक क्षीण रेखा तक नजर न आयेगी।

फिर भी आप निराश न हों। हिम्मत न हारें। समय बीतने दें। बस, कुछ दिन ठहर जायें। विस्मरण वह मृदु मलहम है जो आपके जख्मों पर दवा का काम देगा और आपको पूर्ण स्वस्थ कर देगा। समय बीतने पर आप अपने कष्टों और विपत्तियों को खुद ही भूल जायेंगे।

समय सर्वोपरि है। वह हमें वे शक्तियाँ देता है, जिससे हमारे मन का भार हलका हो जाता है। अन्दर के दुर्भाव खुद दूर हो जाते हैं।

फारस के राजा ने अपनी अंगूठी पर ये शब्द खुदवाये थे :

यह स्थिति भी नहीं रहेगी

३७२—अच्छी स्थिति आयेगी। समय सदा एक सा नहीं रहता। गति ही जीवन का लक्षण है। हम किसी विषम स्थिति से चिन्तित हों न तनिक से लाभ से फूल उठें। अच्छी या बुरी जैसी स्थिति हो हम धैर्य से समय को बीतने दें। समय आयेगा जब हमारी विषय से विषम स्थिति अच्छाई में बदलेगी।

३७३—निश्चय रूप ज्ञान और अनुभव रूप विज्ञान से भली-भाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्मा के अनुभव में ही आनन्द मग्न

रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियों के 'आत्मा' हो जायेंगे। इसीलिये किसी भी विघ्नों से तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे।

सन्यासी

३७४—संन्यासी सब ओर से आसक्ति हटा चुका होता है। मन बुद्धि पर विजय प्राप्त कर चुका होता है और इच्छा मात्र का त्यागी होता है—इससे उसको परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है… अब तुम समझ गये होगे कि भगवा कपड़ा सन्यास का स्वरूप नहीं है। वह तो बाह्य चिन्ह मात्र है। सन्यासी देह से अलग हो जाता है। वह जीते जी ही देह अग्नी को सौंप चुका है यह बताने के लिये, वह अग्नी के रङ्ग का गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं।

अब यदि पुरुष विवेक को जाग्रत करके शान्ति पूर्वक यह विचार करे कि एक दिन तो शरीर को छोड़ना ही है। शरीर छूटते ही संसार का सम्बन्ध भी छूट जायेगा, क्योंकि शरीर तो भाड़े सीमित समय के लिये भाड़े पर लिया हुआ है समय पूरा होते ही मालिक को वापस सौंप ही देना है। तब फिर मुद्दत (समय) पूरी होने के पहिले ही उसमें से आसक्ति हटा कर हँसते मुख मालिक की चीज मालिक को वापस सौंप दी जाये तो कितना अच्छा हो फिर यदि मुद्दत पूरी होने के पहिले ही यदि मैं अपने घर का पता लगा लें तो इसके भाड़े के मकान को खाली करने के बाद तुरन्त ही वहाँ जाकर सुख से रहेगा।

बस इतना विवेक मनुष्य में आ जाये तो उसका भव बन्धन कट जाता है।

३७५--देवता में तो स्वार्थ रहता है, परन्तु सन्तों में नहीं, सन्त पुरुष तो अपने दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं। (सन्त)

३७६—सन्त पुरुष सबको अपनी आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टि में अपना और पराये का भेद नहीं, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन उसके पास छिपाने की कोई बात नहीं। (सन्त)

३७७—केवल जल मय तीर्थ नहीं है और केवल मिट्टी या पत्थर की प्रतिमायें ही देवता नहीं होतीं; ये तीर्थ और देवता तो बहुत समय तक सेवन करने पर पवित्र कर देते है। परन्तु सन्त के तो दर्शन करने से ही पवित्र कर देते है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी, मन के देवता तो उपासना करने पर भी पाप का पूरा नाश नहीं करते। ज्ञानी सन्त की तो मुहूर्त भर सेवा ही सब पापों को विनष्ट कर देती है।

३७८---समय किसी की भी प्रतीक्षा नहीं करता है। फल लगता है, बढ़ता है पकता है और टपक पड़ता है। भगवान काल, प्रत्येक परिपक्व फल को खा लेते हैं।

३७९--समुद्र से मैंने यह सीखा है कि साधक को सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये। उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित से उसे क्षोभ न होना चाहिये।

३८० —आदमी जुल्म का मारा तो पनप जाता है,
मेहरबानी या कृपा के भार से दबा जाता है।

३८१—एक ही आत्मा में उपाधि भेद से नानात्व की प्रतीति होती है।

३८२—सच्चा भक्त बनना चाहते हो तो परमात्मा में लवलीन रहो।

३८३—बड़ों का अपमान करना ही उनका प्राण-घात करना है।

इस विश्व में आत्मा एक ही है। वह तुम में है और मुझमें है। केवल एक ही है। वही आत्मा इन विभिन्न जीवों के रूप में प्रतिबिम्बित हुई है। लेकिन इसका हमें ज्ञान नहीं। हम समझते है कि हम एक दूसरे से और परमात्मा से पृथक है। और जब तक हम ऐसा सोचेंगे, तब तक संसार में दुःख और क्लेश बना रहेगा यही एक बड़ा भ्रम है।

३८४—जीव भगवान का नित्य दास है।

भगवान के साथ इसका एक अखण्ड सम्बन्ध है, और इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उसके बिना यह रह ही नहीं सकता। वह कभी मिटता नहीं केवल विस्मृति का एक परदा आ जाता है। और यह भूला-सा भटका-सा संसार में इधर से उधर दौड़ने लग जाता है।

३८५—(१) मन का काम, संकल्प-विकल्प करना है।
(२) बुद्धि का धर्म, विचार करना है।
(३) अहङ्कार का, अभिमान करना है।
(४) चित्त का धर्म, स्मृति और संस्कारों का बनाये रखना है।
इन चारों वृतियों को शुद्ध रखना सत्व संशुद्धि कहलाता है।

३८६—जो गुण जहाँ मिले वहीं उससे ग्रहण करके लाभ उठाये इसी का नाम सत्संग है।

३८७—जिस समय चित सात्विक हो, उस समय उसको ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म, हरिकथा और सत्संग में लगाये।

३८८—साधन अच्छा हुए विना साध्य अच्छा नहीं हो सकता, बीज के अनुसार ही फल होगा।

३८९—कर्म ही गुरु है, कर्म ही ईश्वर है।

३९०—साधक की दुर्बलता ही साधन में बाधक बन जाती है।

४९१—विश्वासघात और कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित नहीं है।

४९२—याद रखिये, समय एक औषधि रूप है। बड़े-बड़े घाव समय की गति से भर जाते हैं।

३९३—हम भगवान से भी यही प्रार्थना करें कि हमको सुख-दुःख में समान रहने की शक्ति दे। जिस प्रकार स्वर्ण को हथौड़ी की तमाम चोट सहन करनी पड़ती हैं, और आग में तपना पड़ता है तभी वह आभूषण बनता है, उसी प्रकार मनुष्य जब दुःख की चोटें सहन कर लेगा तो उसका मूल्य बढ़ेगा ही।

३९४—प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नहीं सकता।

३९५—अपना गुण और दूसरों का दोष देखना बड़ा ही भयङ्कर दोष है अथवा यों कहो कि यही दोष सभी दोषों की भूमि है।

३९६—जानिय तबहि जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा॥

३९७—बाहर ईश्वर ढूंढ़ना भीतर नाहीं मूढ़।
बाहर ईश्वर न मिले, भीतर है सो गूढ़॥

३९८—मरना भला है उसका जो अपने लिये जिये।
जीता है वह जो मर चुका इन्सान के लिये॥

३९९—न हरि भूलो न जग छोड़ो, कर्म कर जिन्दगानी में।
रहो दुनिया में तुम ऐसे, कमल रहता है पानी में॥

४००—यह गर्व भरा मस्तक मेरा, प्रभू चरण-धूल में झुकने दे।
अभिमान विकार भरे मन को हरि नाम की माला जपने दे

४०१—"जिन्दगी" कहती है दुनिया से तू अपना दिल लगा।
"मौत" कहती है कि तेरी दिललगी अच्छी नहीं॥

४०२—आदमी अपने इरादा का हो पक्का किस तरह।
जिस तरह कानून है तकदीरे कुदरत का अटल।

४०३—समदरसी इच्छा कछु नाही।
हरष सोक भव नहि मन माही॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे।
लोभी हृदय वसई धनु जैसे॥

४०४—तज पर अवगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति।
सन्त हँस का सर्वदा नारायन यह रीति॥
'संत रूपी हँस की सदा यही रीति होती हैं कि वे पराये अवगुण रूपी जल का त्याग करके उसके गुण रूपी दूध में ही प्रीति करते हैं।'

४०५—यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
जब मनुष्य मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी की बुराई करने का विचार अपने मन से नहीं करता, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

४०६—मोक्ष के तीन साधन एक भावापन्न माने गये है :—
ज्ञान, भक्ति और वैराग्य।

४०७—कामना ही क्रोध बन जाती है।

४०८—इस मन की भूख का नाम तृष्णा है। उसकी निवृत्ति ही वितृष्णा है।

४०९—जो देह भूत नहीं है, किन्तु ब्रह्मभूत है, ब्रह्मभूत हो जाना ही ज्ञान की निष्ठा है।

४१०—बाहर की वस्तु चाहने से आन्तरिक वृत्ति बाहर खिच जायगी,

परन्तु अन्दर की वस्तु को चाहने वाला बाहर के सब सुखों को अन्दर खींच लेता है ।

४११—बहुत चले हैं, बहुत चलेंगे, बिरला कोई पार लगेगा ।
इन लहरों पर न जाने तट किसे-किसे मंझधार मिलेगा ।।
दूध दही में रमि रहा, व्यापक सब ही ठोर,
दाद वक्ता बहुत है, मथि काढ़ ते और ।

चिन्ता निवृत्ति का नाम ही शान्ति है । और चिन्ता हमारे मनन पर आश्रित है । हमारा मनन जिस किसी रूप में चलता है । वह चिन्ता का ही जन्म दाता है और चिन्तातुर कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता ।

४१२—प्रत्येक में हम ईश्वर के दर्शन करें । उनमें द्वेष क्रोध ईर्ष्या झगड़ा करना ईश्वर के साथ करना है । इस प्रकार की जब हमारी दृढ़ भावना बन जायगी तभी हमारा व्यावहारिक जीवन सविवेक होगा, बुद्धि और ज्ञान का विकास होगा । सत्सङ्ग से प्रभावित जीवन के द्वारा ही ऐसा विकास होगा ।

४१३—भगवान के शरणागत होने के लिये छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड का अभाव होना चाहिये ।
"ज्ञानी काटे ज्ञान से मूरख काटे रोय ।"
समस्त सांसारिक वासनाओं के ऊपर उठकर यदि अपनी भावनाओं को मंगलमय भगवान के श्री चरणों में केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो वे शरणागत वत्सल हमें तुरन्त अपना लेंगे और हमारा यह मानव-जीवन धन्य बन जायेगा ।

४१४—सबसे बड़ा पाप है प्रपञ्च तथा 'अहं' को चाहना इनसे प्रीत करना । इनसे मुक्त होना सब से बड़ा पुण्य है । जीना, जानना और प्यार करना ही आनन्द है । आनन्द की पूर्णता ब्रह्म है । जो ब्रह्म में जीता है, ब्रह्म को जानता है ब्रह्म से प्यार करता है, वह पूर्ण परमानन्द प्राप्त करता है ।

५---वासना हमें फँसाती है, अतः मनुष्य को वासना तथा ज्ञान का अंतर ज्ञात होना चाहिये, जिससे वह अन्धी वासनाओं का आखेट होकर गहरे गर्त में गिरने से बचा रहे।

दुर्बलता ही मनुष्य का प्रधान पाप है। अकारण ही जिससे देह की शक्ति का अपव्यय न हो, उस ओर ध्यान रखना उचित है। देह का खाद्य है परिमित आहार और विहार और मन का खाद्य शुद्ध भाव और भगवत् चिन्तन है। देह और मन के क़ल-कारख़ानों को ठीक तरह चलाने से इसके चालक रूपी आत्मा का सन्धान मिलना सहज हो जाता है।

४१६---ज्ञान की प्राप्ति का मूल मनुष्य है। जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसके पाने का क्रमशः यत्न करता है वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। चुपचाप बैठने से कुछ नहीं होता।

भक्त चार प्रकार के होते हैं

४१७—चार आने भक्त वह है जो केवल माला फिराते रहते हैं।
आठ आने भक्त वह कहलाते हैं जो ईश्वराज्ञा मानते हैं।
बारह आने भक्त वह हैं जो सब में ईश्वर को देखते हैं।
सोलह आने भक्त वह कहलाते हैं जो सब को ईश्वरमय देखते हुए प्राणी मात्र की सेवा करते रहते हैं॥

आनन्द वह खुशी है जिसके भोगने पर पछताना नहीं पड़ता।

४१८—घृणा राक्षसों की सम्पत्ति है।
क्षमा मनुष्यत्व का चिन्ह है॥
परन्तु प्रेम देवताओं का स्वभाव है॥
बदा हूँ बेख़ुदा मैं, बंदे मेरे ख़ुदा हैं।

४१९—देवता हर समय देते ही देते हैं, इसी कारण देवता कहलाते हैं। इसलिये मनुष्यों को भी चाहिये कि वे भी कुछ न कुछ देते रहें। जल दान कुछ घन्टों तक तृप्ति, भोजन दान एक दिन का दुख दूर, वस्त्र दान उससे चार-पाँच मास आराम। ब्रह्म विद्या दान यह परलोक तक काम आती है।

४२०—ज्ञान की प्राप्ति का मूल मनुष्य का पुरुषार्थ है। जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसके पाने का क्रमशः यत्न करता है वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। चुपचाप बैठने से कुछ नहीं होता।

४२१—यदि तू एक वृक्ष की सेवा करता है तो वह भी समय पर फल देता है। यदि तू अपनी सेवा उस परब्रह्म को समर्पण करे तो क्या वह फल न देगा ?

४२२—बस, तभी तुम सचमुच बलवान, स्वतन्त्र और मुक्त हो सकते हो, विचार और विवेक के द्वारा इस भ्रम, इस माया को दूर भगा दो। पहचानो तो सही तुम हो कौन ?

४२३—वेदान्त मात्र अधिकारी का ही निर्माण करना चाहता है, क्योंकि अधिकारी बने विना वेदान्त विद्या कभी भी फलीभूत नहीं होती।

४२४—इच्छाओं का त्याग या वासनाओं का क्षय जैसे भी आप कर लें सच्चा और उत्तम साधन वही है जो हमको इच्छा और तृष्णा से ऊपर ले जाता है।

४२५—हम उस ठोस पत्थर की भाँति हैं जो सालों ही पानी के भीतर रहने पर भी अपने अन्दर कुछ जज्ब (समाने) नहीं देता। बाहर निकालने पर शुष्क बना रहता है। हमें कृत्रिम पत्थर मिश्री की डली बनना चाहिये जिससे जल में मिलते ही अपना रूप खोकर जल रूप हो जायें।

४२६—प्रेम तो एक सामान्य शब्द है किन्तु इसी प्रेम का सम्बन्ध यदि ईश्वर के साथ होना चाहता है तो भक्ति कहलाता है। आत्मा के साथ हो तो ज्ञान, स्त्री के साथ हो तो काम, धन के साथ हो तो मोह। गुरु, माता, पिता के साथ हो तो श्रद्धा। इसी प्रकार प्रेम के विविध स्वरूप हैं परन्तु सच्चा प्रेम तो आत्मा के साथ ही होता है सच्ची बात तो यह है कि कोई भी किसी से प्रेम नहीं करता।

४२७—जो खतरा नहीं उठाता, वह लाभ से भी वंचित रहता है। यदि ईश्वर को पाना चाहते हो तो जीव को दाँव पर रखना पड़ता है। जीव को पाना हो तो देह को वाजी पर रखना पड़ता है और ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का ज्ञान प्राप्त करना हो तो कार्य कारण रूप प्रपंच को वाजी पर रखना पड़ता है। यह जुआ खेले विना छुटकारा नहीं है।

४२८—हम जिसके सेवक हैं, उसी पर हमारा सब भार है। वह जैसे रखेगा, वैसे रहेंगे। वह जिलाए तो जीवित हैं अन्यथा उस प्रियतम के हाथ से मरना भी हमें प्रिय हैं।

४२९—विना कारण वाले प्रेम का नाम ही प्रेम हैं। जैसे अपने आपमें प्रेम स्वाभाविक है व अन्य किसी से प्रेम स्वाभाविक नहीं, जैसे पानी जब से अग्नि के संसर्ग में हुआ तो वह जलाता है परन्तु उसका जलाना अस्वाभाविक है। पानी कब से जलने लगा? यह प्रश्न संगत है। परन्तु अग्नि कब से जलाने लगी? यह प्रश्न संगत नहीं।

४३०—पंडित तो वह है जिसके प्रेम के चक्षु खुले हुये हैं, जो ज्ञान और प्रेम के आवेश में पशु वनस्पति वरन् पाषाण तक में भी अपने ठाकुर भगवान को देखता और पूजता है। वह पंडित भला कैसे कहा जा सकता है। जिस मनुष्य की छाया से

घृणा हो, मुसलमान को छूना पाप जाने और व्यवहार में पत्थर प्रतिमा ही में भगवान् माने ?

४३१—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिए कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जावें। भक्ति और प्रेम की इस उच्चतम अवस्था में वह अपने प्रेम-पात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

४३२—जो अपनी वृत्ति या मन को आत्मस्वरूप वना लेगा उसे ही आत्म दर्शन होगा।

४३३—अन्तःकरण के अन्दर कामनाओं का रहना ही तो संसार है। यदि मन से इच्छाओं का नाश हो गया तो जीव की सब दुःखों से मुक्ति हो जाती है।

४३४—सत्य ज्ञान के प्रेमियो ! यदि आप दूसरों के अशुद्ध वर्ताव में, छल कपट कलह क्रोध से वचना चाहते हो तो स्वयं दूसरों के साथ छल कपट पूर्ण अशुद्ध व्यवहार न करो। जैसे व्यवहार आप दूसरों से चाहते हो, वैसा ही स्वयं भी दूसरों के साथ करो।

४३५—वचन की दृढ़ता ही पुरुषत्व की पहिचान है।

४३६—जिसे ब्रह्म का आनन्द प्राप्त है उसे संसार में किसी वस्तु से भय नहीं होता।

४३७—कर्त्तव्य और शुद्ध भावना की दृढ़ता से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

४३८—अपने स्वामी की कृपा को, अधिकार मान वैठना एक सेवक की सबसे वड़ी भूल है।

बल केवल पवित्रता में है

४३९—चाहे ध्रुव अपने स्थान से टले तो टल जाये और सूर्य उदय

हो ने से प्रथम ही अस्त हा जाये किन्तु साहसी पुरुष का साहस कभी नहीं टूटता, भूल से भी उसके माथे पर वल नहीं आता।

४४०—शुद्ध चरित्र वाले मनुष्य प्रत्येक स्थिति में अपनी ईमानदारी से, उच्च अभिलाषा से, शुद्ध वासना से सब के ऊपर एक प्रकार का वशीकरण करते हैं।

४४१—एक मुट्ठी चरित्र्य एक मन विद्या के बरांवर है।

४४२—एक विदेशी विद्वान ने कहा है कि चिन्ता एक प्रकार से मानसिक कायरता है, जो जीवन को जहरीला बना डालता है। सचमुच चिन्ता के द्वारा विषाक्त शरीर सीधे पनप नहीं सकता। कहते हैं कि शयन या निद्रा उस संजीवनी के तुल्य है, जिसके स्पर्श से प्राणी नव जीवन प्राप्त करता रहता है।

४४३—साधन-तत्व ही गुरु तत्व है, जो सर्वदा साधक में विद्यमान है। इस दृष्टि से साधक, साधन और साध्य में जातीय एवं स्वरूपगत एकता है, क्योंकि तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं। कारण कि साधन-तत्व साध्य का स्वभाव और साधन का जीवन है। अतः साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। साधक की साधन-तत्व से अभिन्नता ही वास्तविक गुरु की प्राप्ति है, जो जीवन में एक वार ही होती है और जिसके होते ही गुरु और शिष्य अभिन्न हो जाते हैं। यह वास्तविक गुरु सेवा तथा गुरु भक्ति है।

४४४—भगवान में प्रेम होता है श्रद्धा से। भगवान के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव के तत्व-रहस्य को समझने से ही सब समझ में आते हैं एवं महापुरुषों के और उत्तम साधकों के सङ्ग एवं सत्-शास्त्रों के मनन से प्रेम जागृत होता है। इसलिये संत, महात्माओं और उच्चकोटि के साधकों का सङ्ग तथा सत् शास्त्रों का अध्ययन-मनन अवश्य ही करना चाहिये।

४४५—उत्तेजित व्यक्ति एक पागल हाथी के समान होता है। वह अपनी हरकतों से आसपास के वातावरण को भयग्रस्त और विषाक्त कर देता है। उत्तेजना के क्षणों में उसकी अक्ल को अजीर्ण हो जाता है। वह उसी तरह वके जाता है, जैसे एक विना मुंह वंधे फुटवाल के ब्लैडर से हवा निकलती रहती है। यदि ऐसा व्यक्ति उत्तेजना के क्षणों में अपने घर में ही होता है, तो वह या तो अपनी पत्नी को गाली वकता-पीटता है अथवा निर्दोष बच्चों के लिये विपत्ति वन जाता है!

४४६—दुख उतनी बुरी वस्तु नहीं, जितना हम मान लेते हैं। दुख के आधार पर ही हम आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। जिस प्रकार भूख ही भोजन प्राप्ति हेतु है। उसी प्रकार दुख तथा मृत्यु ही आनन्द तथा अमरत्व की प्राप्ति में हेतु है। पर ऐसा तभी हो सकता है जब हम दुखी होने पर विचार करें, भयभीत न हो। दुख हमारे विना ही बुलाये आया है, हम उसे रोक नहीं सकते। जिसे रोक नहीं सकते और जो अपने आप आता है, वह किसी ऐसे की देन है, जो अनन्त है। उस अनन्त की देन में सभी का हित विद्यमान है। उससे भयभीत होना हमारी अपनी भूल है। जिस काल में दुख पूर्ण जाग्रत होता है, उसी काल में सब प्रकार की आसक्तियाँ अपने-आप मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही हम उस अनन्त की महिमा देखने के अधिकारी हो जाते हैं।

४४७—यदि मनुष्य गर्ज, फर्ज, कर्ज के संकल्प हृदय से निकाल दे कल्याण अवश्यम्भावी है।

४४८—जिस प्रकार किसी बैंक का खजान्ची हजारों रुपयों के बीच रहता है परन्तु उसमें एक पाई को भी अपना नहीं समझता, बैंक का ही समझता है उसी प्रकार संसार में विचरण करो।

४४९—ज्ञान वह पंख है जिससे हम उड़ कर स्वर्ग तक पहुँच सकते है।

४५०—अमर तत्व तेरे अन्तर में ही है। अनित्य स्पर्शों को सहन करना सीख, वह प्रकट होगा। भटकना व्यर्थ है।

४५१—हमें अपने व्यवहार में भूल कर भी कभी रूखा नहीं होना चाहिये।

शान्त रहना अपने-आप में एक सिद्धि है जो विना अभ्यास और अच्छी संगति के नहीं प्राप्त हो सकती।

शान्त रहने की आदत बचपन से ही डालनी चाहिये।

४५२—हरेक आदमी को अपनी ही जानकारी से आगे बढ़ना चाहिये।

४५३—सब का प्रिय बनने के लिये अपने को मिटाना पड़ेगा।

४५४—वचन सदा ही अच्छे बोलो। वाणी से भावना बनती है और बिगड़ भी जाती है।

४५५ - वासना, त्याग, ग्रहस्थ में जो जमा किया उस सबका त्याग ही सन्यास कहलाता है।

४५६—ज्ञान से मुक्ति मिलती है, नित्य नैमित्यक कर्मों से ज्ञान प्राप्त होता है। इससे चित्त निर्मल, ब्रह्म प्राप्ति, सरलता और वाणी में मधुरता जरूर होनी चाहिये।

४५७—जहाँ भी रहो अपने भीतर की ज्योति केन्द्र से अपनी दृष्टि एक क्षण के लिये भी न हटाना।

४५८—हमारा प्रेम उसी के प्रति होता है जिसमें गुण होते हैं अथवा जो अपने प्रति प्रेम करता है। यदि हम भगवान के गुण जान लें और उनकी अहैतुकी कृपा और उपकारों का चिन्तन करें तो स्वतः ही हमारा भगवान से प्रेम हो जायगा। ईश्वर का कितना असंख्य उपकार है, हमें सब दिया है।

४५९—गुरु निराकार ब्रह्म का साकार एवं चलता फिरता स्वरूप है। जिन पुरुषों का कहीं अन्य स्थानों पर ब्रह्म भाव न टिके, वे अपनी आस्था गुरु से ही प्रारम्भ करें।

४६०—गुरु में ब्रह्म भाव का ज्ञान उस रज्जू भाग के ज्ञान की तरह है जिसका कि जरा सा ज्ञान होने से ही उसके समस्त रज्जू हो जाने का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार गुरु को ब्रह्म मान लेने से समस्त सृष्टि में फिर ब्रह्मभाव दृढ़ हो जाता है।

४६१—ईश्वर के प्रति किया हुआ अपराध गुरु कृपा से छूट सकता है, किन्तु गुरु का अपमान ईश्वर के लिये भी असह्य है

४६२—गुरुपद, ईश्वर से भी बड़ा है, क्योंकि ईश्वर ने जीव को बन्धन में डाला और अपनी माया के चक्र में झोंक दिया। परन्तु गुरु ने उसे ज्ञानदान देकर इस विषय जाल से मुक्त कर दिया।

४६३—गुरु वह है जिसका उपदेश जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करे। भेद का प्रतिपादन तो सभी लोग करते हैं; किन्तु अभेद का भेद बताने वाला ही गुरु है।

४६४—गुरु मुख चितवत रहे जैसे मणी भुजंग।
कहे कबीर बिसरे नहिं यह गुरुमुख को अंग॥

४६५—गुरु मुख गुरु आज्ञा चलै छोड़ि देइ सब काम।
कहे कबीर गुरु देव को तुरन्त करे परनाम॥

४६६—उलटे सुलटे बचन के सिख न माने दुख।
कहे कबीर संसार में सो कहिये गुरुमुख॥

४६७—हाँ, जब तक तुम अपने आपको शरीर समझते हो, अपने को एक व्यक्ति मात्र जानते हो, तब तक तुम्हें गुरु, ब्रह्म गुरु की भी आवश्यकता है और वे तुम्हारे लिये शरीर के रूप में ही प्रकट होंगे। किन्तु जब शरीर से तदात्म होने का मिथ्या भ्रम मिट जाता है, तब मालूम होता है कि आत्मा ही हमारा गुरु है।

४६८—बिन सतगुरु कोउ भेद न पावा।
धरती से अकास लौं [illegible]।

सम दृष्टि सीतल सदा, अदभुत जाकी चाल ।
ऐसा सत्तगुरु कीजिये, पल में करे निहाल ।।
सत्तगुरु बिन संसार में, पार न पावे कोय ।
सबै त्याग सत्तगुरु मिले, आवागमन न होय ।।
तीन लोक नौ खंड में, गुरु से बड़ा न कोय ।
करता करे न कर सके, जो गुरु करे सो होय ।।
हरि सेवा किये सौ बरस, गुरु सेवा पल चार ।
तो भो नहि बराबरी, वेंदन कियो विचार ।।
सुन्दर सत्तगुरु वंदिये, सो हि बदन जोग ।
औषद शब्द पिलाय ये दूर कियो भव रोग ।।

४६९— नाम निरन्तर से मन लागा विलख वासना भागी ।
उठत बैठत कबहूँ न छुटत ऐसी ताड़ी लागी ।।
दया करे धर्म मन राखे घर में रहे उदासी ।
अपना सा दुख सबका जाने ताहे मिले अविनाशी ।।
चिन्ता दीन दयाल को, मो मन सदा आनन्द ।
जायो सो व्रति पालसी, रामदास गोविन्द ।।

४७०—साधन ऐसा कीजिये, हरि पद चित्त लगाय ।
दीखे सब में ईश ही, जहाँ जहाँ मन जाये ।।
हों गरीब गोपाल जूँ तुम हो गरीब नेवाज ।
अबकी बार उबार ले शरण पढ़े की लाज ।।